मित्रग्रंथमाला २य पुष्प।

जीवन-स्मृति।

मूल लेखक—

कवि सम्राट् श्री रवींद्रनाथ ठाकुर।

अनुवादक—

श्री सूरजमल जैन।

प्रकाशक—

मित्र-ग्रंथमाला-कार्यालय

सीतलामाता बाजार इन्दौर।

प्रथमावृत्ति। | संवत् १९८७ वि | मूल्य २)
सन १९३० ई | सजिल्द २॥)

भूमिका ।

भारत में ही क्या, संसार भर में ऐसे दो ही व्यक्ति हैं जिन्हें संसार भर विशेष रूपसे जानता है। एक महात्मा गांधी, दूसरे कविसम्राट् श्री रवींद्रनाथ टागोर। कविवरकी लेखनी में जो प्रसाद है, जो प्रवाह है, जो पारिदर्शकता है एवम् जो चमत्कार है, वह बहुतों में नहीं है। जिन बातों को हम सर्व साधारण मन में गुन-गुनाते रहते हैं, पर स्पष्ट नहीं कर पाते, उन्हें ही कविवर इतनी सरलता से कह जाते हैं कि आश्चर्य हुए विना नहीं रहता। जिस की लेखनी और वाणी आज न केवल भारत वर्ष को किंतु युरोप, अमेरिका, चीन, जापान, आदि सम्पूर्ण देशों को मुग्ध कर रही है, उस लेखनी और वाणी में क्या चमत्कार है, उस चमत्कार का उद्गम स्थान कहां है और कैसा है, यह जाननेकी प्रत्येक भारतीय में उत्कंठा होना स्वाभाविक है। उस उत्कंठा की पूर्ति इस ग्रंथ से होती है। इस ग्रंथ में कविवर ने अपनी पूर्वावस्था का वर्णन बडी मार्मिक पद्धतिसे किया है।

बाल्यकाल, इस काल के खेल और कौतुक, शिक्षा, उसकी पद्धति, शिक्षकों का स्वभाव, लेखन कला, लेखकों की रुचि, कवियों और कविताओं की गति, स्थिति, पत्र संपादन, मानवीय स्वभाव, प्रकृति सौंदर्य, तारुण्य, तरुणाई की चंचलता, मैत्री, पुस्तकें, माता पिता आदि कुटुम्बी जन, गृहव्यवस्था, नौकरों

का स्वभाव, सह पाठियों की दशा, यूरोपियन समाज, उसकी संस्कृति, भारतीय सभ्यता की महत्ता, जन्म मरण, अध्यात्म, जडवाद, सुखदुःख की मीमांसा, आदि अनेक बातों पर कविवर ने इस पुस्तकमें बडे मार्मिक ढंगसे प्रकाश डाला है। और साथ साथ उनपर विहंगम दृष्टिसे समालोचना करते हुए जो चुटकियां ली हैं वह तो हृदय से जाकर एक दम भिड जाती हैं। ऐसी अनूठी पुस्तक का अनुवाद हिंदी पाठकों के सन्मुख रखते हुए मुझे बडा आनंद होता है।

लगभग दस वर्ष हुए सरस्वती में 'जीवन-स्मृति' के मराठी अनुवाद की समालोचना करते हुए आचार्य श्री महावीर प्रसादजी द्विवेदीने लिखाथा कि "खेद है इसका अनुवाद हिंदीमें नहीं हुआ"। इसी परसे मुझे इसके अनुवाद की सूझी और आज दस वर्ष बाद इसके प्रकाशन का योग आया।

मुझे आशा है कि हिंदी के पाठक अपने एक महान पुरुष की कलम से लिखे हुए उसी के जीवन संबंधी अनुभवों को पढेंगे और उनसे शिक्षा प्राप्त करेंगे।

अनुवादक—

सूरजमल जैन, इंदौर.

समर्पण ।

यह ग्रंथ

मेरे परम माननीय मित्र,

हिन्दी भाषा के महान् सहायक,

स्वनाम–धन्य

वाणिज्य भूषण **श्री लालचंदजी सेठी**

झालरापाटन

के

कर कमलों में

उनके

राष्ट्र--भाषा--प्रेम के उपलक्ष में

सादर समर्पित ।

सूरजमल जैन ।

सूचीपत्र.

महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर

जीवन-स्मृति ।

प्रकरण पहिला

प्रस्तावना ।

यद्यपि मुझे यह मालूम नहीं है कि स्मृति-पटल पर कौनसा चित्रकार चित्र बनाता और उनमें रंग भरा करता है; परन्तु वह कोई है अवश्य जो अपनी इच्छानुसार चित्रों में रंग भरता रहता है। वह प्रत्येक घटना का चित्र हूबहू बनाने के लिये हाथ में रंग की कूंची लेकर नहीं बैठा; किन्तु वह अपनी अभिरुचि के अनुसार जिन बातों को लेना चाहता है उन्हें लेता है बाकी की बातों को छोड़ देता है। वह कितनी ही महत्व पूर्ण बातों को तुच्छ बनाता है और तुच्छ बातों को महत्व देता है। महत्व की बातों को पीछे ढकेलने और तुच्छ बातों——जिनकी ओर कभी किसी का लक्ष्य नहीं जा सकता—को महत्व देकर आगे लाने में उसे कुछ विषेशता नहीं प्रतीत होती। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि वह चित्रों में रंग भरता है, इतिहास की रचना करने नहीं बैठता।

इस प्रकार जीवन की दो बाजुएँ हैं। बाहिर की बाजू की ओर एक के बाद एक घटना घटती जाती है और भीतर

की और घटनाओं की प्रतिमाओं में रंग भरा जाता है। दोनों में यद्यपि साम्य है परन्तु दोनों एक रूप नहीं हैं।

इस चित्रकार की हमारे अन्तर में रही हुई चित्रशाला को पूर्णरूप से देखने का हमें सुभीता नहीं मिलता। बीच बीच में उसके कुछ भाग हमारी दृष्टि को आकर्षित कर लेते हैं; परन्तु उसका बहुत बड़ा भाग हमारे को दिखलाई ही नहीं पड़ता, न उसका ज्ञानही हमें होपाता है। और न किसी को यह मालूम ही है कि यह चित्रकार चित्रों को क्यों बनाता है? इसका काम कब पूरा होगा और किस चित्र-भवन के लिये यह चित्र बना रहा है?।

कुछ वर्षों पहिले मेरी गत आयुष्य के वृत्तान्त के सम्बन्ध में प्रश्न उत्पन्न हुआ था। उस समय मुझे इस चित्र-मंदिर का सूक्ष्म अवलोकन करने की संधि मिली थी। मैंने अपने आयुष्य-क्रम का इतिहास कथन करने लिये अल्प साधन-सामग्री परसे ही काम निकालने का विचार किया; परंतु जब मैंने स्मृति-पटल परके चित्र-मंदिर के द्वार को खोला तो मुझे मालूम हुआ कि आयुष्य की स्मृति, जीवन का इतिहास नहीं है किन्तु अज्ञात चितेरे द्वारा उसकी कल्पना के अनुसार बनाये हुए चित्र हैं। उस पट पर जो इधर उधर चित्र विचित्र रंग फैला हुआ है वह बाह्य दृश्यों का प्रतिबिम्ब नहीं है; किन्तु चितेरे के उस अन्तःकरण का आदर्श है जिसमें उसके

विकारों की छटा छाई हुई है। इस कारण स्मृति-पट की यह टिप्पणी न्याय की अदालत में सबूत के लिये उपयोगी नहीं। स्मृति भण्डार की सहायता से विश्वसनीय इतिहास उपलब्ध न होने पर भी स्मृति-चित्रों का मोह मनुष्य को होता है और उसी प्रकार का मोह मुझे भी हुआ है।

जिस मार्ग से हम प्रवास करते हैं और मार्ग की बाजू के जिन निवास स्थानोंपर हम अपनी प्रवास की थकावट दूर करते हैं वह मार्ग और वे निवास स्थान प्रवास के समय तक चित्र पट रूप नहीं हैं किंतु प्रत्यक्ष वस्तु हैं। उनकी अत्यंत आवश्यकता है। परन्तु प्रवास के समय जिस शहर, जिस खेत, जिस नदी, जिस पर्वत और जिस पहाडी में से हमने प्रवास किया है उनकी ओर रात्रि के मुकाम पर जाने के पहले सन्ध्या समय में यदि हम दृष्टि फेंकते हैं तो अस्त होते हुए सूर्य नारायण के प्रकाश में वे सब चित्रवत् दिखने लगते हैं और उससे मन भर जाता है। उसी प्रकार संधि मिलते ही मैंने जो गत आयुष्य की ओर देखा तो उसके चित्रों ने भी मेरा मन मोहित कर लिया।

इन चित्रों की ओर मेरा मन आकर्षित होने में संभव है कि मेरे गत आयुष्य के सम्बन्ध में मुझे जो स्वाभाविक प्रेम है वह कारण होगा; परन्तु इस व्यक्ति विषयक कारण के सिवाय भी उन चित्रों में मनो-वेधकता की दृष्टि से स्वतंत्र

योग्यता अवश्य है, इसमें सन्देह नहीं। यद्यपि मेरी जीवन स्मृति में ऐसी कोई विषेशता नहीं है जिसके कारण जगत् के अन्त तक उसे सँभाल कर रखा जाय परन्तु किसी भी विषय की टिप्पणी रखने में उस विषय का महत्व ही कारण नहीं होता; किन्तु जिन जिन भावनाओं का अपने को अन्तःकरण पूर्वक अनुभव होता है उनका साक्षात्कार यदि दूसरों को कराया जा सके तो वह अपने समाज-बन्धुओं को सदा उपयोगी होता है। यदि स्मृति गत चित्रों का प्रतिबिम्ब शब्दों द्वारा खींचा जा सके तो साहित्य में उसे स्थान मिलना ही चाहिये और इसी साहित्य के नाते से मैं अपना स्मृति-चित्र पाठकों के सन्मुख रखता हूं। यदि कोई इसे स्वतः के चरित्र लेखन का प्रयत्न समझेगा तो उसकी भूल होगी और उस दृष्टि से यह स्मृति निरुपयोगी और अपूर्ण दिखेगी।

प्रकरण दूसरा

शिक्षा का प्रारम्भ।

हम तीन बालकों का लालन पालन एक साथ ही होता था। मेरे साथी मुझ से दो वर्ष बडे थे। इन्हें पढाने के लिये एक शिक्षक नियत किया गया था। इन दोनों के साथ ही मेरी शिक्षा का भी प्रारम्भ हुआ। परन्तु मैंने क्या पढा यह मुझे बिल्कुल स्मरण नहीं है। हां! केवल एक वाक्य मुझे बार बार याद आता है किः—

"पानी रिम झिम रिम झिम पडता है, झाडों के पत्ते हिलते हैं" दो अक्षरी शब्दों का पाठ मैं सीख चुका था और

आद्य कवि की यह पहिली कविता-पानी रिम झिम, रिम झिम-मैं पढा करता था। जब जब उन दिनों के आनन्द की मुझे याद आती है तब तब कविता में यमकों की इतनी आवश्यकता क्यों है ? यह मेरे ध्यान में आजाता है। अर्थात् यमक के कारण एक प्रकार से शब्द का अन्त हो जाता है और दूसरे प्रकार से नहीं होता। अर्थात् शब्दोच्चार तो पूरा हो जाता है परन्तु उसका नाद घूमता रहता है। और कान व मन में यमक रूपी गेंद को एक दूसरे की ओर फेंकने की शरियत मानों लग जाती है। इसीलिये ऊपर बतलाई हुई कविता के शब्द दिन दिन भर मेरे कान के आगे गूंजते रहते थे।

मेरी बहुत छोटी अवस्था की एक बात मुझे अच्छी तरह याद है कि हमारे यहां एक वृद्ध जमादार था। उसका नाम था कैलास। वह हमारे कुटुम्बी जनों के समान ही माना जाता था। वह बडा ठठोरा था। और छोटे से बडे तक सब की दिल्लगी उडाता था। विशेष कर नव विवाहित जमाई और घर में आने जाने वाले नये मनुष्यों को वह खूब ही बनाता था। लोगों का यह विश्वास था कि मरने के बाद भी कैलास का यह स्वभाव नहीं छूटा। उनके विश्वास का कारण भी था। वह यह कि एक समय हमारे कुटुम्ब में प्लन्चेट नामक यन्त्र द्वारा परलोक गत व्यक्तियों से पत्र-व्यवहार करने का काम बहुत जोर पकड गया था। एक दिन इस

पेंसिल के द्वारा 'कैलास' नाम लिखा गया। तब कैलास से पूछा गया कि परलोक का जीवन-क्रम किस प्रकार का है ? प्लन्चेट की पेंसिल ने उत्तर लिखा कि "मैं तुम्हें बिलकुल नहीं बताऊंगा। भला, जिसे जानने के लिये मुझे स्वतः मरना पडा वह मैं तुमको मुफ्त कैसे बतला सकता हूं ?"।

मुझे प्रसन्न करने के लिये कैलास एक हलके दर्जे का गाना ज़ोर जोर से गाया करता था। यह गाना उसीने बनाया था। इस कविता का नायक मैं था और नायिका के आगमन की आशा बडी सुन्दरता से प्रगट की गई थी। कविता में उस नायिका का मोहक चित्र भी खींचा गया था। भविष्यकाल के दैदीप्यमान सिंहासन पर विराजमान होकर उस सिंहासन को सुशोभित करने वाली उस जगन्मोहिनी कुमारी का वर्णन सुनकर मेरा चित्त उस ओर आकर्षित हो जाया करता था। उसमें नायिका के सिर से पैर तक के रत्न-खचित आभूषणों की और मेरे विवाहोत्सव की तैयारी की अपूर्व शोभा का जो वर्णन था उससे मेरी अपेक्षा अधिक वय वाले चतुर मनुष्य का मस्तिष्क भी घूम सकता था; परन्तु मेरे बालचित के आकर्षित होने और अन्तश्चक्षु के सन्मुख आनन्द जनक चित्रों के घूमने का कारण केवल उस कविता के यमकों का मधुर नाद और उसके ताल का आन्दोलन ही था। काव्यानन्द के यह दो प्रसंग और "पानी रिमझिम रिमझिम पडता है, नदी में पूर आता है" इस प्रकार

के बालकों को श्रेष्ठ प्रती के मालूम होने वाले बाल-वाङ्मय के वाक्य आज भी स्मृति-पटल पर घूम रहे हैं।

इसके बाद मुझे जो बात याद है वह मेरे पाठशाला जाने की बात है। मेरी बहिन का लडका 'सत्य' मुझसे अवस्था में कुछ बडा था। एक दिन मेरे बडे भाई को और उसे पाठशाला जाते हुए मैंने देखा। मुझे पाठशाला में जाने योग्य न समझकर वे दोनों चले गये। इसके पहिले मैं कभी गाडी में नहीं बैठा था और न घर से बाहिर ही गया था। इसीलिये सत्य ने घर में आने पर रास्ते के अपने साहस के कृत्यों का वर्णन खूब निमक मिर्च लगाकर किया। वह सुनने पर मुझे अब अपना घर में रहना अशक्य मालूम होने लगा। मेरे पाठशाला जाने के भ्रम को दूर करने के लिये मेरे शिक्षक ने मुझे एक थप्पड मारकर कहा कि अभी तो पाठशाला जाने के लिये रोता है परन्तु फिर पाठशाला से छूटने के लिये इससे भी ज्यादह रोयगा। इस शिक्षक का नाम, चर्या अथवा स्वभाव का मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है; परन्तु उसका जोरदार उपदेश और उससे भी ज्यादह जोरदार थप्पड मुझे आजतक याद है। शिक्षक ने जो भविष्य कहा था वह जितना ठीक उतरा उतना ठीक भविष्य मेरे जीवन में दूसरा कोई नहीं उतरा।

मेरे रोने का यह परिणाम हुआ कि मुझे बहुत ही छोटी अवस्था में पौर्वात्य विद्यालय (oriental Siminary) में

जाना पडा। वहां मैंने क्या पढा इसका मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है। परन्तु वहां बालकों को दंड देने की जो पद्धतियां थीं उनमें से एक अभी तक मेरे ध्यान में है। वह पद्धति यह थी कि जो बालक अपना पाठ नहीं सुना सकता था उसे हाथ आगे कर बेंच पर खडा करते थे और उसकी हथेलियों पर पट्टियों का ढेर लगाते थे। इस प्रकार के दंडों का उपयोग बालकों के मन की ग्राहक शक्ति बढाने में कहां तक होना संभव है? इसका विचार मानस शास्त्री ही कर सकते हैं, यह मेरा विषय नहीं है। अस्तु। इस प्रकार अति कोमल अवस्था में मेरा अभ्यास-क्रम शुरू हुआ।

उस समय नोकर लोगों में जो पुस्तकें प्रचलित थीं उन्हीं के द्वारा मेरे वाङ्मय के अभ्यास का प्रारंभ हुआ। उनमें से चाणक्य के सूत्रों का बंगाली भाषान्तर और कृत्तिवास की रामायण ये दो पुस्तकें मुख्य थीं। रामायण बांचने के एक प्रसंग का चित्र मुझे आज भी ज्यों का त्यों स्पष्ट दिखलाई देता है।

उस दिन आकाश मेघाच्छादित था। मार्ग के पास वाले बडे वरामदे में मैं खेल रहा था। यहां मुझे किसी भी तरह से डराने की सत्य को इच्छा हुई और वह पुलिस, पुलिस, पुकारते हुए मेरे पास आया। उस समय पुलिस के कामों के संबंध में मेरी कल्पना अत्यंत अस्पष्ट थी। केवल

एक बात पर मेरा विश्वास था कि अपराधी बनाकर किसी मनुष्य को पुलिस के सिपुर्द करने पर फिर उसका सत्तेनाश हो जाता है। जिस प्रकार मगर की दतकडी में फंसे हुए दुर्दैवी मनुष्य की दशा होती है उसी प्रकार पुलिस के जाल में फसे हुए की होती है। फौजदारी कायदे की चुंगल से किस प्रकार छुटकारा हो सकता है, भला, इसे मेरे समान अज्ञान बालक कैसे जान सकता था। अतः पुलिस, 'पुलिस' का शब्द सुनते ही मैं घरके भीतर भागा। और मा से अपने संकट की बात कही। परंतु ' माता, मेरे कहने से कुछ भी बिचलित्त नहीं हुई। वह पूर्णतया शान्त रही। इससे मुझे धीरज बंधा। तोभी मुझे बाहिर जाने का साहस करना उचित नहीं मालूम हुआ। अतः मा की मौसी के रंगे हुए पुठ्ठे और मुडे हुए पत्रों की रामायण की पुस्तक वहां रखी थी उसे लेकर मैं माता की कोठरी की देहरी पर बैठकर पढने लगा। भीतर के चौक के चारों ओर बरामदा था। इस बरामदे के पास यह कोठरी थी। आकाश मेघाच्छादित था। और तीसरे प्रहर का मन्द प्रकाश वहां पड रहा था। रामायण में एक दुःखप्रद प्रसंग का वर्णन मैं पढने लगा। बाँचते बाँचते मुझे रोना आगया। माने यह देखकर वह पुस्तक मेरे हाथ से छीन ली।

प्रकरण तीसरा

अंतर्बाह्य ।

हमारे बाल्य काल के समय प्रायः बहुतेरों को शान शौकत नहीं मालूम थी। आज की अपेक्षा उस समय का रहन सहन प्रायः बहुत सादा था। शान शौकत और एशो आराम का प्रश्न एक ओर रख देने पर भी आज जो बालकों की निरर्थक चिंता और देख भाल रखने की पद्धति प्रचलित है, उससे हमारे घर के बालक पूर्णतया अलिप्त थे। उन्हें इन बातों की गंध भी नहीं थी। वस्तुस्थिति इस प्रकार है कि बालकों की देखरेख रखने में पालकों को भले ही आनन्द मालूम हो; पर बालकों को तो उससे केवल पीडा ही होती है।

हमें नोंकरों की सत्ता में रहना पडता था। अपना कष्ट बचाने के लिये उन लोगों ने हमारा नैसर्गिक स्वेच्छाचार का अधिकार प्रायः अपनी मुट्ठी में ले रखा था। दूसरी ओर निरर्थक लाड प्यार—बार बार खाने, पीने, दिन भर कपडे पहरने—से हम मुक्त थे। इस प्रकार एक की कमी दूसरा पूरी करता था।

हमारे भोजन में प्रायः पकवान बिलकुल नहीं होते थे। और हमारे कपडों की सूची यदि देखी जाय तो आज कल

के लडके नाक भौं सिकोडे बिना न रहेंगे। दश वर्ष की उम्र होने के पहिले किसी भी कारण से हमने मौजे और बूट नहीं पहिने। ठन्ड के दिनों में भी बन्डी के ऊपर एक सूती कुरता पहिन लिया कि बस हुआ। और उससे हमें अपनी दीनता भी नहीं मालूम होती थी। हां हमारा वृद्ध दर्जी "न्यामत" यदि बंडी में खीसा लगाने को भूल जाता था तो उससे हमारा मिजाज जरूर बिगड जाता था। खीसे में खूब भरने के लिये जिसे कोई चीज न मिली हो, इतना दरिद्री बालक आज तक एक भी उत्पन्न नहीं हुआ होगा। कृपालु ईश्वर का संकेत यही मालूम होता है कि धनिकों के बालकों और गरीब माता पिता के बालकों की सम्पत्ति में बहुत ज्यादह अन्तर न रहे। हम में से प्रत्येक बालक को 'चप्पल' की एक जोडी मिलती थी। परन्तु यह भरोसा नहीं था कि वह सदा पावों में ही रहेगी। क्योंकि हम उसे पावों से ऊपर फेंकते और फिर झेला करते थे। हमारी इस रिवाज से चप्पलों का वास्तविक उपयोग यद्यपि नहीं होता था, तो भी उन्हें कम काम नहीं पडता था।

पहिनाव, खानापीना, रहन सहन व्यवसाय, संभाषण और विनोद में हमारे वृद्ध पुरुषों में और हम में आकाश पाताल का अन्तर रहता था। बीच बीच में उनके काम हमारे को दिखलाई पड जाते थे परन्तु वे हमारी शक्ति के बाहिर होते थे। आज कल के बालकों के लिये तो उनके माता पिता

आदि, वडी 'सहज प्राप्य बस्तु' सी हो गये हैं। और उन्हें उनका समागम चाहे जब मिल सकता है किंबहुना यह कहना भी उचित होगा कि आज कल बालकों को मनचाही चीज सुलभ होती है; परन्तु हमारे जमाने में कोई भी वस्तु इतनी सुलभ नहीं थी। तुच्छ से तुच्छ वस्तु भी हमारे लिये दुर्मिल थी। हमलोग इसी आशा से अपने दिन निकालते थे, कि बडे होने पर हमें ये सब मिलेंगी। विश्वास था कि भविष्यकाल इन सब वस्तुओं को हमारे लिये बहुत संभाल कर रखेगा। इसका परिणाम यह होता था कि हमें जो कुछ भी मिलता था वह चाहे थोडा ही क्यों न हो उसका हम खूब उपयोग करते थे। और उसका कोई भी हिस्सा योंही नहीं जाने देते थे। आज कल जो कुटुम्ब खाने पीने से सुखी हैं उनके लडकों को देखो तो मालूम होगा कि जो वस्तुएं उन्हें मिलती हैं उनमें से आधी वस्तुएं तो वे केवल निरर्थक ही खोदेते हैं। और इस तरह उनकी संपत्ति के बहुत बडे भाग का होना न होना समान हो जाता है।

बाहर के दालान के आग्नेय कोन में नोकरों के लिये जगह थी। हमारा बहुतसा समय उसी जगह जाता था। हमारा एक नोकर शरीर से भरा हुआ, काले रंग का था और लडके जैसा था। इसका नाम 'शाम' था। इसके बाल घूंघर वाले थे। यह खुलना जिले का रहनेवाला था। यह एक स्थान नियत कर वहां मुझे बैठा देता था और मेरे

आसपास खडी से रेखा खींचकर बडे गम्भीर स्वर से उंगली दिखाकर धमकाता था कि खबरदार इस लकीर के बाहिर मत जाना। मैं अच्छी तरह यह कभी न समझ पाया कि मेरा यह संकट ऐहिक है या परमार्थिक। मुझे इसका डर बहुत ज्यादह लगता था। लक्ष्मण की खींची हुई रेखा के बाहिर जाने से सीता को जो संकट भोगना पड़ा, वह मैंने रामायण में बांचा था। इस कारण 'शाम' की खींची हुई रेखा की शक्ति के सम्बन्ध में भी मुझे किसी तरह की शंका भला कैसे हो सकती थी ?।

नोकरोंकी इस कोठडीकी खिडकी के नीचे पानी का हौज था। जिसमें पानी की सतह तक पत्थर की सीढियाँ लगी हुई थीं। इसके पश्चिम की ओर बाग की दीवाल के पास एक प्रचण्ड वटवृक्ष था। और दक्षिण की ओर नारियल के वृक्षों की पंक्ति खडी थी। मेरे लिये नियत की हुई जगह इसी खिडकी के पास होने से मैं खिडकी में से उक्त दृश्य को एक चित्रों की पुस्तक के समान दिनभर देखा करता था। हमारे अडोसी पडोसी सुबह होते ही वहां स्नान करने को आया करते थे। प्रत्येक के आने का वख्त मुझे मालूम था। और प्रत्येक के पहिराव उढाव का ढंग भी मुझे अच्छी तरह मालूम होगया था। कोई तो वहाँ आकर और कानों में उंगली डालकर गोता लगाता और किसी को पानी में मस्तक डुबोने

तकका साहस ही नहीं होता था। इस लिये वह अपना अंगोछा पानी में भिंजोकर उससे शरीर पोंछकर ही स्नान की क्रिया पूरी कर लेता था। कोई आता तो पानी पर लेटने लगता और कोई पानी की सीढी पर से ही पानी में कूद पडता था। एक स्तोत्र पढ़ता हुवा आता और धीरे धीरे एक एक सीढी नीचे उतरता। दूसरा सदा शीघ्रता में रहता था। आया गोता मारा, कपडे पहिने और चला घरको। तीसरा एक ऐसा मनुष्य वहाँ आता था जिसे जल्दी करना शायद मालूम ही नहीं था। धीरे धीरे आप आते, अंग को खूब रगड रगड कर साफ करते और फिर स्नान कर साफ वस्त्र और वह भी बहुत ठहर ठहर कर पहिनते थे। फिर धोती वगैरह खूब पछीटते और बडी चतुराई से उसकी घडी कर आप बगीचे में आते, वहीं कुछ देर टहलते और फूलों को बीनते थे। बडी स्वच्छता और स्फूर्ति के साथ आप घर जाते। दो पहर तक यही झगडा चला करता था। दुपहर के बाद उस स्थान पर शांति फैल जाती और केवल बदकें वहाँ तैरा करतीं और अपनी चोंच से पंखों को साफ करती थीं तथा गोकुल गायों का पीछा करती थीं।

इस प्रकार जब पानी पर स्तब्धता फैल जाती थी तब मेरा ध्यान उस प्रचण्ड वट वृक्ष के नीचे की छाया की ओर लगता था। इस वृक्ष की लटकती हुई लम्बी २ शाखाएं वृक्ष

के तने से इस प्रकार लिपट गई थीं कि उनका जालसा बन गया था। उस गूढ प्रदेश में मानों सृष्टि नियम का प्रवेश ही नहीं हुआ था। और यह मालूम होता था कि मानो पुरातन काल की स्वप्न के समान अस्पष्ट मालूम होनेवाली भूमि विधाता की दृष्टि चुकाकर आधुनिक काल के प्रकाश में वहां टिकी हुई हैं। वहां मुझे कौन २ क्या २ करते हुए दिखते थे इसका वर्णन संक्षेप में करना अशक्य है। आगे जाकर मैंने इसी वट वृक्ष पर एक कविता की थी।

हाय। अब वह वट वृक्ष कहाँ है ?। अब वट वृक्ष भी नहीं है और न उस वन राजी को प्रतिबिंबित करनेवाला जलाशय ही है। वट वृक्ष की छाया के समान वहाँ स्नान करनेवाले बहुत से मनुष्य लय हो चुके हैं। और वह बालक, (रवीन्द्रबाबू) अब बडा होकर निज के विस्तार द्वारा प्रसरित उलझनों के जाल में से दिखनेवाली प्रकाश छाया के परिवर्तनों की गणना कर रहा है।

घर से बाहर जाने की हमें मनाई थी। यहां तक कि घर में भी चारों ओर फिरने की हमें आज्ञा नहीं थी। इस तरह के बन्धनों में से ही हमें सृष्टि सौंदर्य का दर्शन करना पडता था। बाह्य-सृष्टि रूप अमर्यादित वस्तु, मेरे सामर्थ्य के बाहर की बात थी। उसकी चमक, उसकी ध्वनि तथा उसकी परिमल मेरे बंधन के छिद्रों में से क्षण भर के लिये मेरे पास आती और मुझसे भेंट कर जाती थी। मुझे मालूम होता था

मानों वह अनेक चेष्टाएँ करके मेरे बंधन के सींकचों में से मुझसे खेलने की इच्छा करती है। परन्तु वह बाह्य सृष्टि स्वतंत्र थी और मैं बन्धन में था। एक दूसरे से मिलने का हमें कोई मार्ग नहीं था। और इस कारण मुझे उसका मोह भी अधिक होता था। परन्तु उसका उपयोग ही क्या ? आज यद्यपि 'शाम' के द्वारा खींची हुई वह खडी की रेखा पुछ गई है तो भी मर्यादा रचने वाले मंडल आज ज्यों के त्यों बने हुए हैं। दूरस्थ वस्तु आज उतनी ही दूर है। बाह्यसृष्टि आज मेरी सामर्थ्य से अतीत है। इस संबँध में बडे हो जाने पर मैंनं जो कविता रची थी वह मुझे इस समय भी याद है।

हमारी गच्ची का कठडा मेरे शिर से भी ऊंचा था। कुछ वर्षों बाद मैं भी ऊंचा हो गया। अब नोकरों का अत्याचार शिथिल हुआ। घर में एक नव परिणीत वधू आई। जिससे अवकाश के समय साथी के नाते चार बातें करने का महत्व मुझे प्राप्त हुआ। उन दिनों दुपहरी के समय मैं कभी कभी गच्ची पर जाया करता था। उस समय घर के सब लोग भोजन कर चुकते थे। सब लोगों को घरू काम से अवकाश मिल जाता था। अन्तःपुर में इस सयय सब लोगों के लेटने का समय होने से शान्ति रहती थी। कठडे पर वस्त्र सूखने को लटका दिये जाते थे। आंगन के एक कोने में पडी हुई

झूंठन पर कौवे टूटते रहते थे। इस शान्त समय में पींजरे के पक्षी कठडे की संधि में से स्वतंत्र पक्षियों के साथ चोंच से चोंच लगाकर अपने मन की बातें किया करते थे।

जब मैं वहां खडा होकर इधर उधर देखने लगता तो पहले अपने घर के बाग के उस कोने पर की नारियल की वृक्षावली पर मेरी दृष्टि पडती थी। इस वृक्षावली में से 'बाग' व उसमें बने हुए झोंपडे व हौज तथा हौज के पास वाला हमारी 'तारा' ग्वालिन का घर दिखलाई पडता था। इस दृश्य की उस ओर कलकत्ता नगर के भिन्न भिन्न ऊंचाई के व आकार के गच्चीवाले घर दिखलाई पडते थे। जिनके बीच बीच में सिर उठाए हुए वृक्षों की शिखरें पूर्व क्षितिज के कुछ नीले और कुछ भूरे रंग में विलीन होती हुई दिखती थीं। उनपर दुपहरी की धूपका उज्ज्वल प्रकाश पडता और उससे कुछ उनका रंग बदलता दिखलाई पडता था। उन अति दूरस्थ घरों के आगे की गाच्चियों पर ऊपर से ढके हुए जीने ऐसे मालूम होते थे मानो वे घर मुझे अपनी तर्जनी ऊंगली दिखाकर आंखे मिचकाते हुए अन्तर्भाग के रहस्य की सूचना दे रहे हों।

जिस तरह एक भिखारी राजभवन के सन्मुख खडा होकर यह कल्पना करता है कि इस महल के भाण्डार ग्रह में कुवेर की संपात्ति संचित और सुरक्षित है। उसी प्रकार इन

अज्ञात भवनों में मुझे जो स्वातन्त्र्य और लीला की संपत्ति भरी हुई मालूम होती थी उसकी कल्पना भी मैं न कर सकता था। इस समय मस्तक पर सूर्य के तपते रहने पर भी आकाश में खूब ऊंचाई पर चीलें उडा करती थी, जिनकी कर्ण कठोर किंकाली मेरे कानों के पर्दों को हिला देती थी। बाग से लगी हुई गली में से नीरव और शान्त घरों के आगे से फेरी लगाने वाले 'मनिहार' की चूडियां लो चूडियां, की दुपहरी की निद्रा भंग करनेवाली आवाज भी मुझे सुनाई देती थी। इन सब बातों से मेरी आत्मा नीरस जगत से दूर उड जाती थी।

मेरे पिता घर पर बहुत कम-कभी कभी-रहते थे। वे सदा प्रवास ही करते थे। तीसरे मंजिल पर उनके सोने बैठने के कमरे थे। मैं ऊपर जाकर खिडकियों की संधि में से हाथ डालकर दरवाजेकी सांकल खोल लेता था। और दक्षिण कोने पर उनकी जो कोच पडी थी उस पर शाम तक पडा रहता था। उस कमरे के बंद रहने व उसमें मेरे छिपकर प्रवेश करने से उसकी गूढता की छटा विशेष मालूम होती थी। दक्षिण की बाजू की चौडी और शून्य गच्ची को सूर्य किरणों से तप्त होती हुई देखते हुए मैं अपने मनोराज्य में मग्न होकर वहां बैठा रहता था।

इसके सिवाय मनको आकर्षित करने वाली और एक बात थी। वह यह कि उन दिनों कलकत्ते में पानी के नल

कुछ दिनों से ही शुरू हुए थे। और नल के प्रथम आगमन के प्रसंग पर अधिकारियों को जो विजयानंद प्राप्त होता था उस कारण उन्होंने पानी की इतनी रेल पेल कर दी थी कि हिन्दू लोगों की बसती में भी पानी की कमी नहीं रही थी। नलके उस प्रथम शुभागमन में पानी मेरे पिता के उक्त कमरे तक ऊपर पहुँचता था। इसलिये चाहे जब फुवारे की टोटी खोलकर चाहे जब तक उसके नीचे मैं खडा रहता था। यह सब मैं उससे होनेवाले सुख के लिये नहीं करता था किन्तु केवल कल्पना के अनुसार मेरी इच्छा को स्वैर संचार करने देने के लिये करता था। उस समय पहले क्षण में तो स्वातंत्र्य-सुख प्राप्त होता था पर साथही दूसरे क्षण में यह भय उत्पन्न हो जाता था कि यदि कोई देख लेगा तो क्या होगा ? । इन दोनों कारणों से उस फुवारे के पानी द्वारा मेरे शरीर में आनन्द के रोमांच खडे हो जाया करते थे। बाह्य सृष्टि से संबंध होने की संभावना बहुत कम होने के कारण ही इन कार्यों से संबंध होता था और इसलिये उक्त कार्यों से होने वाले आनन्द का वेग भी तीव्र होता था। साधन सामग्री जब भर पूर होती है तब मन को मन्दता प्राप्त होती है। मन यह भूल जाता है कि आनन्द का पूर्ण उपभोग प्राप्त होने के कार्य में बाह्य सामग्री की अपेक्षा अंतर्गत सामग्री का ही महत्व विशेष होता है। और मनुष्य की बाल्यावस्था में मुख्यतया उसे यही पाठ सिखाना होता है। बाल्यावस्था में उसके

स्वामित्व की वस्तुएं थोडी और तुच्छ होती हैं तो भी सुख प्राप्ति के अर्थ उसे अधिक वस्तुओं की जरूरत नहीं मालूम होती। जो दुर्दैवी बालक खेलनेकी असंख्य वस्तुओं के भार से दब जाता है उसे उन वस्तुओं से कुछ भी सुख प्राप्त नहीं होता।

हमारे घर के भीतर के बाग को बाग कहना अतिशयोक्ति होगा। क्योंकि उसमें केवल एक अरंड का झाड, मनुक्का दाख की दो जातियों की दो वेलें और नारियल के झाडों की एक पंक्ति थी। बीच में वर्तुलाकार फर्शी जडी हुई थी। जिसमें जगह व जगह दरारें पड गई थीं, घास व छोटे छोटे पोधे ऊग आये थे जो चारों तरफ फैल गये थे। और फूल के झाड उसमें वे ही बचे थे जिन्होंने मानो यह प्रतिज्ञा करली थी कि कुछ भी होजाय हम नहीं मरेंगे। वे अपना कर्तव्य इतनी तत्परता से पालन करते थे कि माली पर उनकी चिन्ता न करने के अपराध का आरोप करने का मौका ही नहीं मिलता था। इस बाग के उत्तर कोने में धान काटने के लिये एक छप्पर था। इस जगह आवश्यकता पडने पर अन्तःपुर के मनुष्य एकत्रित होते थे। ग्रामणि रहन सहन का यह अंतिम अवशेष भाग आज कल पराजित होकर लज्जा से किसी को मालूम न होते हुए ही नष्ट हो गया है।

यद्यपि मेरे बाग की यह दशा थी तो भी मुझे यह मालूम होता था कि 'ॲडम' का नंदन बन भी हमारे बाग

की अपेक्षा अधिक सुशोभित नहीं होगा। क्योंकि 'अॅडम' और उसका बाग दोनों ही दिगम्बर थे। उन्हें बाह्य वस्तुओं की आवश्यक्ता नहीं थी। ज्ञान वृक्ष का फल खाने के बाद ही मानव जाति के बाह्य साधनों और भूषणों की वृद्धि होती है। और वह वृद्धि ज्ञान फल के पूर्णतया पच जाने तक होती ही रहेगी। हमारा यह घर के भीतर का भाग मेरा नन्दन बन ही था। और वह मेरे लायक ठीक भी था। वर्षा ऋतु में सुबह के समय जागते ही इस बाग की ओर मैं किस प्रकार भागता था यह मुझे आज भी स्मरण है। मैं इधर से दौडता जाता था और उधर से ओस के बिन्दुओं से सुशोभित घास व पत्तों का परिमळ मुझ से भेंट करने को आता था। इस समय नारियल के वृक्षों की हँसने वाली छाया के नीचे से और पूर्व के ओर की बाग की दीवाल पर से उषा देवी नूतन व शीतल किरणों के साथ मेरी ओर झुक झुक कर देखती थी।

हमारे घर के उत्तर की ओर एक मैदान है। उसे हम आज भी 'गोलावरी' [कोठार] कहते हैं। इस नाम से यह मालूम होता है कि वहाँ बहुत दिनों पहिले धान्य का कोठार रहा होगा। जिसमें साल भर के लायक धान्य का संग्रह किया जाता होगा। जिस प्रकार बाल्यावस्था में बहिन-भाई में बहुत कुछ समानता रहती है उसी प्रकार उस समय शहर और ग्राम की रहन सहन में भी बहुत कुछ समानता

दिखलाई पडती थी। आजकल तो उस समानता का लेश भी नहीं दिखता। मुझे अवसर मिलने पर व छुट्टी के दिनों में गोलावरी मेरा निवास स्थान बन जाता था। यह कहना भ्रम पूर्ण होगा कि मैं वहां केवल खेलने को जाता था। क्योंकि मुझे वह स्थान ही आकर्षित करता था, खेल नहीं। उससे मैं क्यों आकर्षित होता था यह कहना अशक्य है। शायद उस कोठार के एक कोने में गीली जमीन होने के कारण वहां जाने का मुझे मोह होता होगा। वह स्थान वस्ती से बिल्कुल अलग था और उपयुक्तता की छाप भी उसपर लगी हुई न थी। यह स्थान निरुपयोगी था। फल फूल के झाड लगा कर किसी ने उस स्थान को सुशोभित भी नहीं किया था। इसी कारण उस स्थान की भयानकता से मेरी कल्पना के स्वैच्छ संचार में कभी विघ्न नहीं पडा। मेरे पर देखरेख रखने वालों की नजर चुकाकर जब मुझे उस स्थानपर जानेकी संधि मिलती थी तब मुझे छुट्टी मिलने के समान आनन्द होता था।

हमारे घर में और भी एक जगह थी। पर वह कहाँ थी इसे ढूंढनें में मुझे अभी तक सफलता नहीं मिली। मेरी ही बरा बरी की मेरे खेल की साथिन एक लडकी थी वह इस जगह को राजवाडा कहती थी। वह कभी कभी मुझसे कहा करती थी कि "मैं अभी वहां से आरही हूं"। पर मुझे वहां साथ ले जाने का सुप्रसंग उसे कभी नहीं मिला। यह एक अद्भुत जगह थी। और वहां होने वाले खेल खिलौने

आश्चर्य जनक थे। मुझे यह मालूम होता था कि यह स्थान कहीं समीप ही--पहिली या दूसरी मँजिल पर ही--होना चाहिये। और वहां जाने की किसी में सामर्थ्य नहीं है। " मैं अपनी साथिन से कई बार पूछता था कि यह स्थान घरके भीतर हैं या बाहिर ? पर वह सदा यही उत्तर थी कि " नहीं नहीं वह घर में ही है "। इस उत्तर से मैं विचारा करता था कि यह स्थान कहाँ होगा ?। क्या ऐसा भी कोई घर में स्थान या कमरा है जिसे मैं नहीं जानता ?। इस राजवाडे का राजा कौन था, इसकी तलाश मैंने कभी नहीं की। यद्यपि वह राजगृह कहां था यह मुझे अभी तक नहीं मालूम हुआ तो भी वह हमारे घर में ही था, यह बात सत्य है। बाल्यावस्था की आयुष्य की ओर दृष्टि फेंकने पर जीवन और जगत् में जो गूढ तत्व भरे हुए हैं उनका ही विचार मुझे बारम्बार होता है। उस राजवाडे के समान मुझे यह भी मालूम होता कि जगत में एक ऐसी वस्तु सब स्थान पर व्याप्त है जिसका स्वप्न में भी हमें दर्शन नहीं हुआ है। और प्रतिदिन हमें यही प्रश्न अधिक महत्व का मालूम होता है कि वह वस्तु हमें कब मिलेगी ?। मानो सृष्टि देवता अपनी मुट्ठी को बन्द कर हमसे सहर्ष मुद्रा से पूछती है कि " बताओ मेरी मुट्ठी में क्या है ? "। और हमें इसकी कल्पना भी नहीं होती कि ऐसी कौनसी वस्तु है जो इसके पास नहीं होगी।

दक्षिण के बरामदे के कोने में मैंने सीताफल का बीज बोया था। इसे मैं रोज पानी देता था, यह बात मुझे बडी अच्छी तरह याद है। " इस बीज से झाड ऊगेगा या नहीं, इस बातपर मेरा कुतूहल पूर्वक ध्यान लगा रहता था। आज भी सीताफल के बीज में अंकुर फूटता है, परन्तु वह कुतूहल मात्र अब नहीं है। यह दोष सीताफल का नहीं है किन्तु हमारे मन का है। अपने चचेरे भाई के पत्थरों के ढेर में से उन्हें न मालूम होते हुए, मैं कुछ पत्थर उठा लाया था और उनकी एक छोटी सी टेकडी बना ली थी। उन पत्थरों की संधियों में कुछ पौधे भी लगाये थे। उनकी मैंने इतनी देख रेख रखी थी कि जिससे वे असमयमें ही गत प्राण होने से बच सकें। पत्थरों के इस छोटे ढेर से मुझे इतना आनन्द होता था कि उसका शब्दोंसे वर्णन करना कठिन है। मुझे इसमें बिलकुल सन्देह नहीं था कि मेरी उत्पन्न की हुई यह सृष्टि हमारे बडे बूढों को भी चकित कर देगी। मेरे इस विश्वास की प्रतीति के लिये जो दिन मैंने नियत किया था उसी दिन मेरी कोठडी के कोने में बनी हुई यह छोटीसी टेकडी–उसके पत्थर और पौधे-एकदम नष्ट होगये। पढने की कोठडी की जमीन पर्वत-स्थापना करने के योग्य स्थान नहीं है, इसकी जानकारी हमारे बडे बूढों ने मुझे इतनी कठोरता और शीघ्रतासे कराई कि उस टेकडी को नामशेष कर देने से हृदय को एक बहुत भारी धक्का बैठा। यद्यपि पत्थरोंके भारसे जमीन मुक्त हो गई; परन्तु उस भारसे मेरा मन दब गया और तब मुझे अच्छी

तरह विदित हुआ कि हमारी स्वैर आकांक्षा और बडों की इच्छा में कितना भारी अन्तर है ।

सृष्टि का जीवन उस समय हमारे मन को थर्रा दिया करता था । जमीन, पानी, हरियाली, आकाश ये सब वस्तुएँ हमसे सम्भाषण करती थीं । इनकी ओर हम कभी दुर्लक्ष नहीं कर सकते थे । हमें इस सम्बन्ध में कितनी ही बार तीव्र दुःख हुआ होगा कि हमें पृथ्वी का ऊपरी भाग तो दिखता है परन्तु अन्तर भाग का कुछ भी ज्ञान नहीं हो पाता । पृथ्वी के धूल घूसरित आच्छादन के भीतर हम अपनी दृष्टि किस प्रकार पहुंचा सकेंगे, इसका विचार मन में सदा हुआ करता था । और कभी २ यह विचार उत्पन्न होता था कि यदि पृथ्वी के भीतर एक के बाद एक बांस डाले जाँय तो शायद अप्रत्यक्ष रीति से हम उसके अन्तर्भाग का स्पर्श कर सकें ।

माघोत्सव में दीपमालिका के लिये आंगन के बाहिर लकडी के खंबों की पांक्ति लगाई जाती थी । इन्हें लगाने के लिये माघ शुद्ध प्रतिपदा से गढ्ढे खोदने का काम प्रारम्भ होता था । किसी भी उत्सव की तैयारी में बालकों को विशेष आनन्द होता ही है । परन्तु मेरा ध्यान इन प्रतिवर्ष खुदने वाले गढ्ढों की और विशेष जाता था । यह काम मैं प्रतिवर्ष होता हुआ देखता था । कोई कोई बार खोदते २ गढ्ढा इतना गहरा

होता हुआ दिखलाई पडता था कि उसमें खोदने वाला भी अदृश्य होजाता था। इनमें कोई वस्तु मुझे ऐसी नहीं दिखी जो राजपुत्र अथवा किसी साहसी वीर के ढूंढने योग्य हो। तो भी प्रत्येक बार मुझे यही मालूम होता था कि गूढता की पेटी का ढक्कन खोला जा रहा है और मन में यह आता था कि यदि थोडा और खुदे तो ढक्कन अवश्य खुलेगा। इसे वर्षों पर वर्ष बीत गये पर अधिक गहरे खुदने का काम पूरा नहीं हुआ। पर्दे पर धक्का मारा जाता था परन्तु वह हटता नहीं था। हमें आश्चर्य होता था कि हमारे बुजुर्ग जो चाहे सो कर सकते हैं, फिर वे इतना थोडा खोद कर ही क्यों रह जाते हैं ?। हम छोटे बालकों के हाथ में यदि यह बात होती तो पृथ्वी के गर्भ की गूढता हम कभी धूल के नीचे दबी हुई नहीं रहने देते।

हमारी कल्पना को इस विचार से भी स्फूर्ति मिलती थी कि आकाश के प्रत्येक प्रदेश के पीछे उसकी गूढता छिपी हुई है। बंगाली शास्त्रीय प्राथमिक पुस्तक के एक पाठ का विवरण करते हुए हमारे पंडितजीने जब हमसे कहा कि आकाश में दिखलाई पडनेवाली यह नीलिमा कोई वेष्ठन नहीं है, तब हमें बहुत भारी आश्चर्य हुआ। उसके बाद फिर पंडित जी ने कहा कि कितनी ही नसेनियाँ लगाने और उनपर चढने से आकाश में कभी कोई वस्तु सिर से नहीं टकरायगी। तब मैंने मन में सोचा कि वहां तक पूरी नसेनियां शायद ये नहीं लगा सकते होंगे। इसीसे जरा उपेक्षा की दृष्टि से पूछा "यदि

एक पर एक असँख्य नसेनियां लगाई जाँय तो क्या होगा ?' परन्तु जब मुझे यह कहा गया कि उनका कुछ भी उपयोग नहीं हो सकेगा तब मैं बिचार करते हुए चुप होगया। और अन्त में मैंने यही निश्चय किया कि जो सम्पूर्ण जगत् का शिक्षक होगा उसे ही यह आश्चर्य कारक रहस्य मालूम होगा।

प्रकरण चौथा

नौकरों का साम्राज्य।

जिस प्रकार हिन्दुस्तान के इतिहास में गुलाम घराने का शासन सुखावह नहीं था उसी प्रकार मेरे आयुष्य के इतिहास में भी नौकरों के शासन का काल भी विशेष आनन्द अथवा वैभव में व्यतीत नहीं हुआ। यद्यपि हमारे राजाओं-नोंकरों--की बार २ बदली होती थी परन्तु हमें सताने वाली दण्ड-विधि में कभी भी फर्क नहीं पडता था। इस विषय के सत्य शोधन का उन दिनों हमें अवसर ही नहीं मिला। हमारे पीठ पर पडते हुऐ धौल को हम जहां तक होसकता सहन करते और यह समझकर अपने आप समाधान कर लेते थे कि जगत् का यह नियम ही है कि बडा आदमी दुःख दे और छोटा सहन करे। इस नियम के हम अपवाद नहीं थे। परन्तु इस नियम के विरुद्ध यह तत्व सीखने में मुझे बहुत दिन लगे कि दुःख सहन करने बाले बडे और दुःख देने वाले छोटे होते हैं।

शिकारी और शिकार, इन दोनों की दृष्टि नीति के तत्व ठहराने में सदा परस्पर विरुद्ध होती है। एक चाणाक्ष पक्षी का बंदूक छूटने के पहिले ही किंकाली फोडकर उडजाना और अपने साथियों को सचेत कर देना शिकारी की दृष्टि में नालायकी या बदमाशी का चिन्ह है। इसी तरह हमें जब मार पडती तब हम भी चिल्लाते थे और हमारे इस व्यवहार को दंड देनेवाले नौकर अच्छा नहीं समझते थे; किन्तु इसे वे अपने राज्य के विरुद्ध राजविद्रोह मानते थे। इस प्रकार के राजद्रोह को नष्ट करने के लिये हम लोगों के शिर पानी से भरी हुई नाँदों में किस प्रकार डुबाये जाते थे वह मैं कभी नहीं भूलूंगा। दंड दाताओं को हमारा रोना कभी अच्छा नहीं लगता था। उनके इस प्रकार के दंड-विधान से कभी कुछ भयानक परिणाम निकलने की भी संभावना रहती तोभी नौकर लोग इस प्रकार की कठोरता--निष्ठुरता क्यों करते हैं? इसका मुझे अब भी कभी २ आश्चर्य होता है। हमें अपने निज के व्यवहार में ऐसी कोई खटकने योग्य बात नहीं मालूम देती थी जिससे हम मानवीय दया से वंचित रखे जाँय। तो फिर इस व्यवहार का कारण क्या?। इसका उत्तर मुझे यही मालूम होता है कि हमारा सब भार नोकर लोगों पर था और यह भार इस प्रकार का होता है कि उसे घर के लोगों को भी सहन करना कठिन हो जाता है। बालकों को बालकों के ही समान यदि अल्लड

रहने दिया जाय और उन्हें भागने, दौडने खेलने व जिज्ञासा तृप्त करने की स्वतन्त्रता दे दी जाय तो उन्हें संभालना बहुत सरल होजाता है; परन्तु यदि उन्हें घर में दबाकर रखाजाय तो एक विकट प्रंसग खडा होजाता है। बालकों की अल्लड वृत्ति से जो भार हलका होजाता है वही उन्हें दबाकर रखने से एक कहानी के घोडे के समान पालकों को दुःसह मालूम होने लगता है। कहानी के घोडे को उसके निजके पांवों से न चलाकर उठाकर ले चलने वाले भाडेतू भार-वाहक यद्यपि मिल गये थे; परन्तु पद पद पर उन्हें वह भार क्या बिना खटके रहा होगा ?।

हमारी बाल्यावस्था के इन जुल्मी लोगों के सम्बन्ध में मुझे केवल इतना ही स्मरण है कि ये लोग प्रायः आपस में लठ्ठबाजी करते रहते थे। इसके सिवाय और मुझे कुछ याद नहीं है। हां एक व्यक्ति की प्रमुखता से अब भी मुझे याद है।

इसका नाम ईश्वर था। पहिले वह एक गांव में अध्यापक था। बडा ऐंठबाज, साफ सूफ, गंभीर मुद्रा का और और अहंमन्य गृहस्थ था। इसकी यह समझ थी कि यह पृथ्वी केवल मृतिका--मय है और इसे जल भी शुद्ध नहीं कर सकता। इसीलिये पृथ्वी की इस मृत्तिकामय स्थिति से उसका निरंतर झगडा हुआ करता था। वह अपने बर्तन बडे वेग से होज में डाल देता था ताकि संसर्ग रहित गहरे पानी में से

उसे पानी मिले। स्नान करते समय पानी के ऊपर का सब कचरा दूर कर एकदम वह डुबकी मारता था। रास्ते में चलते समय वह अपना दहिना हाथ शरीर से अलग रखकर चलता था। उससे हमें यह मालूम होता था कि मानों इसे अपने कपडों की स्वच्छता के सबन्ध में ही संशय हो। इसके व्यवहार से यह मालूम होता था कि पृथ्वी, जल, वायु और मानवीय रहन सहन मे अलक्षित भाव से घुसे हुऐ दोषों से भी यह अपने आप को अलिप्त रखने का प्रयत्न करता है। इसका गांभीर्य अगाध था। मस्तक को जरा तिरछा कर गंभीर स्वर से संभालते संभालते चुने हुऐ शब्द यह बोलता था। इसके पीछे खडे होकर सुनने से हमारे कुटुम्ब के वृद्ध पुरुषों को बडा आनन्द मिलता था। इसकी शब्दाडंवर पूर्ण उक्तियों ने हमारे कुटुम्ब के मार्मिक भाषण के भान्डार में सदा के लिये स्थान पालिया था। इसके तैयार किये हुऐ शब्द-समूह आज के समय में उतने अच्छे मालूम होंगे या नहीं इसकी मुझे शका है और इस पर से यह दिखता है कि पहिले जो लिखने और पढने की भाषा में जमीन आसमान का अन्तर रहता था वह अब दूर होता जा रहा है और एक दूसरे के पास आ रहा है।

पंडिताई का काम किये हुऐ इस मनुष्य ने संध्या के समय हमें चुप बैठाने की एक युक्ति ढूंढ निकाली थी। वह रोज शाम को हमें अन्डी के तेल की फूटी हुई समई के आस

पास बिठाकर रामायण व महाभारत की कथा सुनाया करता था। उस समय दूसरे नोकर भी वहां आकर बैठते थे। छप्पर की मुंढेर पर उस समई की बहुत बडी छाया फैल जाती थी। भीत पर छिपकली छोटे २ कीडे पकडा करती थी और हम ध्यान पूर्वक कथा सुनते रहते थे।

एक दिन शाम को कुश ओर लव की कथा प्रारभ हुई। उस कथा में शूर बालकों द्वारा जब अपने पिता और काका के यश को तृण के समान समझने की धमकी देने का वर्णन आया तब इसके आगे क्या हुआ ? यह जानने के लिये हम सब बालक उत्कंठित होने लगे। अतः आगे क्या हुआ आगे क्या हुआ, की आवाज से हम लोगों ने उस मद्दे प्रकाश वाली कोठडी की निस्तब्धता किस प्रकार भंग की, यह मुझे अच्छी तरह याद है। बहुत देर हो गई थी। हमारे सोने का समय प्रायः समीप था और कथा का अन्त बहुत दूर था। ऐसे प्रसंग पर मेरे पिता का किशोरी नामक एक वृद्ध नोकर हमें लेने को वहां आ पहुंचा। अतः ईश्वर ने भी बडी शीघ्रता से यह कथा पूरी की। उस कविता की पंक्ति के चौदह पद थे। और वह बहुत धीरे २ पढी जाने योग्य थी। परन्तु शीघ्रता से ईश्वर ने सब पढ डाली और हम लोग यमक व अनुप्रास के पूर में गोते खाते रहे।

इस कथा बांचन में कभी कभी शास्त्रीय चर्चा भी होती थी। और उसका निर्णय ईश्वर की गम्भीरता और प्रचुर

विज्ञता के द्वारा होता था। वह लडकों का नोकर था, इसलिये उसका पद हमारे घर के लोगों में बहुत नीचा था। तो भी उसकी अपेक्षा वय और ज्ञान में कम योग्यता रखनेवालों पर उसका महाभारत के भीष्म के समान प्रभाव अपने आप स्थापित हो जाता था।

हमारे इस गम्भीर और सन्माननीय नोकर में एक दोष था और इस दोष का ऐतिहासिक सत्यता के लिये उल्लेख करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। यह अफीम खाता था इसलिये मिठाई खाने में इसकी लालसा बहुत रहती थी। इसका परिणाम यह होता था कि जब यह प्रतिदिन सुबह दूध का प्याला भरकर हमारे पास लाता था तो उसके मनका और प्याले का झगडा बहुत होता था, और अन्त में प्रति सारणा शक्ति को आकर्षणा शक्ति के आगे पराजित होना पडता था। दूध पीने की हमें स्वतः ही अरुचि थी। यह अरुचि प्रगट करने को देर न होती कि तुरन्त वह प्याला हमारे आगे से दूर होकर 'ईश्वर' के पेट में पहुंच जाता था। यह कभी भी हमारे आरोग्य के लिये हित-कारक बतला कर उस दूध को पीने के लिये हमसे दुबारा आग्रह तक नहीं करता था। पौष्टिक पदार्थ के पचाने की हमारी शक्ति के सम्बन्ध में भी 'ईश्वर' के कुछ संकुचित विचार थे। सन्ध्या को जब हम जीमने को बैठते तो गोल गोल और मोटी मोटी कडी पूरियाँ वह हमारी थालियोंमें परोसता था और

कहीं पूडी छू न जाय इसलिये बहुत ऊंचे से वह प्रत्येक की थाली में एक २ पूरी परोसना आरंभ करता था। भक्त के बहुत हठ करने पर भी आराध्य देव के द्वारा बडी अप्रसन्नता से वर मिलने के समान एक २ टुकडा हमारी थाली में डालता था। फिर वह हमसे पूछता था कि और भी कुछ चाहिये?। हम यह अच्छी तरह समझते थे कि वह किस उत्तर से प्रसन्न होगा। इसलिये उससे यह कहने में कि 'और परोस' मुझे अत्यन्त खेद हुआ करता था। दुपहर के फलाहार के लिये भी इसके पास दाम रख दिये जाते थे। यह सुबह होते ही रोज हमसे पूछता कि तुझें आज क्या चाहिये?। हमें यह मालूम था कि जितनी ही सस्ती चीज मंगावेंगे उतना ही इसे आनन्द होगा। इसलिये चांवल की लाही और कभी कठिनाई से पचनेवाले चने और मूमफली लाने के लिये हम इसे कहते थे। आंखों में तेल डालकर शास्त्र–विहित आचार का पालन करनेवाला ईश्वर, हमारे खाने पीने के शिष्टाचार का पालन करने की विशेष चिन्ता नहीं करता था।

प्रकरण पांचवां

पाठशाला।

जिस समय मैं 'औरांटियल सेमिनरी' में था, मैंने 'पाठशाला में जानेवाला लडका' इस तुच्छता दर्शक सम्बोधन

से छुटकारा करा लेने का एक मार्ग ढूंढ निकाला था। मैंने अपने बरामदे के एक कोने में अपनी एक पाठशाला खोल दी थी, जिसमें लकडी के गज मेरे विद्यार्थी थे। हाथ में छडी लेकर मैं उन गजों के सामने कुर्सी पर शिक्षक बनकर बैठजाता था। मैंने यह भी निश्चित कर लिया था कि उन विद्यार्थियों में अच्छे और बुरे विद्यार्थी कौन कौन हैं। इतना ही नहीं मैंने यह भी ठहरा दिया था कि उनमें बदमाश चतुर, सीधे, मूर्ख विद्यार्थी कौन हैं। मैं उनमें से बदमाश विद्यार्थियों पर छडियों का इतना प्रहार करता था कि यदि वे सजीव होते तो उन्हें अपना जीवन भारी होजाता। मैं उन्हें जितना ही अधिक मारता था उतना ही मुझे अधिक क्रोध आता था। और मैं इतना चिडजाता था कि मुझे यह समझना कठिन होजाता था कि मैं इन्हें किस प्रकार दबाऊं। मैंने अपने उन मूक विद्यार्थियों पर कितना भारी जुल्म किया था, यह बतलाने के लिये उनमेंसे अब कोई भी नहीं बचा है। क्योंकि बरामदे में उन लकडी के छडों के स्थानपर लोहे के छड लगा दिये गये हैं। इस नवीन पीढी में से किसी को पहले की शिक्षापद्धति के लाभ की संधि नहीं मिली है। और यदि मेरे जैसा शिक्षक इन्हें मिला भी होता तो इन पर इनके पूर्वजों जैसा परिणाम भी नहीं हुआ होता।

मुझे उस समय इस बात का ज्ञान होगया कि असल की अपेक्षा नकल करना सुलभ होता है। क्योंकि मैंने अपने

आप में, सिखाने की हथौटी के सिवा शिक्षकों के जल्दबाजी, चंचलता, पंक्ति-प्रपंच, अन्याय, आदि जो गुण मैंने अपने शिक्षकों में देखे थे सहज रीति से पैदा कर लिये थे। मुझे अब यह जानकर संतोष होता है कि मेरे में उस समय किसी सजीव पर उक्त अज्ञान पूर्ण प्रयोग करने की शक्ति नहीं थी। मैं अब विचार करता हूं तो मालूम होता है कि प्राथमिक शाला के विद्यार्थियों और मेरे लकडी के गज रूपी विद्यार्थियों में अन्तर अवश्य था; पर इन दोनों के शिक्षकों के मानस-शास्त्र में कुछ अन्तर न था। दुर्गुणों की उत्पति कितनी शीघ्रता से होती है इसका यह एक उत्तम उदाहरण है।

मुझे विश्वास है कि मैं 'ओरंटियल सेमिनरी' में बहुत दिनों तक नहीं पढा, क्योंकि जब नार्मल स्कूल में जाने लगा था तब भी मेरी अवस्था बहुत छोटी थी। वहां की मुझे एकही बात याद है। शाला लगने के पहले विद्यार्थी गेलरीमें एक पंक्ति में बैठकर कुछ पद्य, गाया करते थे। यह एक दैनिक कार्यक्रम से ऊबे हुए मनको ताजा करने का प्रयत्न था। बालकों के दुर्दैव से वे पद्य अंग्रजी में थे और उनकी चाल [तर्ज] भी परदेशी थी। इसलिए हमें इस बात की कल्पना ही नहीं होती थी कि हम क्या बोल रहे हैं। बिना समझे बूझे एक मन्त्र के समान हम वे पद्य पढा करते थे। उससे हमें यह क्रिया अर्थ शून्य और उकता देनेवाली

माॡम होती थी। इस प्रकार के कार्यक्रम की योजना विद्यार्थियों में उत्साह उत्पन्न करने के लिये की गई थी और शालाधिकारी समझते थे कि हमने अपना कर्तव्य पूरा करलिया, अब विद्यार्थियों का काम है कि वे इस कार्यक्रम से आनन्द और उत्साह प्राप्त करें। शालाधिकारी लोग अपने कर्तव्य की इस पूर्ति के कारण निश्चिंत थे और इसलिये उन्हें यह जानने की आवश्यक्ता प्रतीत नहीं होती थी कि हमारे कार्यक्रम का उद्देश प्रत्यक्ष व्यवहार में कितने अंशों में पूर्ण हो रहा है। शाला में अभ्यास शुरू होने के पहले इस प्रकार के गायन कराने का प्रस्ताव जिस अंग्रेजी पुस्तक में उन्होंने पढा होगा उसी पुस्तक से शायद पद्यों को भी ज्यों के त्यों शाला के अधिकारियों ने अपने यहां भी प्रचिलित करके अपना कर्तव्य पूरा करलिया होगा। यिदेशी भाषा में होने के कारण उन पद्यों के शब्द ज्यों के त्यों बोलना हमारे लिये कठिन था। इसलिये उन शब्दों को एक विचित्र रूप प्राप्त हो गया था। हमारे उन अंग्रेजी शब्दों के उच्चारणों से भाषा तत्व वेत्ताओं के ज्ञान में भी अवश्य कुछ न कुछ वृद्धि ही होती। उन पद्यों में से मुझे इस समय एक ही पँक्ति याद है वह यह कि:—

Kallokee Pullokee Singill Mellalling Mellalling Mellalling.

बहुत बिचार करने के बाद इस पंक्ति के एक भाग का मूल शुद्ध रूप मैं जान पाया हूं। और Kallokee यह शब्द

किस मूल शब्द का अपभ्रन्श है, यह मैं अभी तक नहीं जान पाया। मेरा अनुमान है कि इस शब्द के सिवा बाकी के भाग का मूल रूप इस प्रकार का होगा,

Full of glee Singing merrily, merrily merrily.

इस पाठशाला के सम्बन्ध में ज्यों ज्यों मेरी स्मृति अधिक स्पष्ट होती जाती है, त्यों त्यों मुझे अधिकाधिक दुःख होता है क्योंकि उस शाला में बिलकुल माधुर्य्य नहीं था। यदि मैं इस शाला के विद्यार्थियों में मिल जुल गया होता तो मुझे वहां सीखने का दुख इतना अधिक प्रतीत नहीं होता। परन्तु मेरे लिये यह अशक्य था। क्योंकि बहुत से विद्यार्थियों के चालचलन का ढंग और उनकी आदतें बहुत ही घृणित थीं। इसलिये बीच में अवसर मिलते ही मैं दूसरे मंजिल पर जाकर एक खिडकी में बैठ जाता था, और अपना समय व्यतीत करता था। तथा यह गिना करता करता था कि एक वर्ष होगया, दो वर्ष व्यतीत हुए, तीन वर्ष होगये। इस तरह गिनते गिनते मुझे जब यह विचार होता था कि अब कितने वर्ष और व्यतीत करना पडेंगे तब आश्चर्य होता था।

शिक्षकों में से मुझे सिर्फ एक ही शिक्षक की याद है। उसकी भाषा इतनी निंद्य थी कि मुझे उससे घृणा हो जाती थी और इसलिये मैं उस के प्रश्नों का उत्तर देना सदा

अस्वीकार कर देता था। इस प्रकार पूरा एक वर्ष मैंने अपनी कक्षा में सबसे अन्त के नम्बर पर बैठकर निकाला। मेरी कक्षा के अन्य विद्यार्थी पढा करते थे और मैं चुपचाप बैठा अकेला न मालूम क्या क्या सोचा करता था। साथ में कुछ उलझन के प्रश्नों को हल करने का भी प्रयत्न किया करता था। ऐसे ही प्रश्नों में से एक बार मेरे सामने यह प्रश्न भी आया कि " निःशस्त्र स्थिति म शत्रु का पराभव किस प्रकार करना चाहिये "। कक्षा के विद्यार्थी अपना पाठ पढ रहे हैं, हल्ला गुल्ला मचा हुआ है और मैं इस प्रकार के प्रश्न हल करने में लगा हुआ हूं। उस समय की यह स्थिति आज भी मेरे नेत्रों के सामने खडी होजाती है। यह प्रश्न मैंने इस प्रकार हल किया था कि बहुत से कुत्ते, सिंह आदि क्रूर पशु, योग्य शिक्षण देकर रण क्षेत्र में पंक्ति बद्ध खडे किये जांय और फिर हम अपना पराक्रम दिखलाना प्रारंभ करें। बस फिर तुरंत ही जय मिलजाने की संभावना है। आश्चर्य जनक सहज रीति से यह उलझन सुलझाई जा सकती है, इस बात की कल्पना जब मेरे मन में आती तब अपने पक्ष की जय प्राप्ति पर मुझे किंचित भी सन्देह नहीं रहता था। अबतक एक भी जबाबदारी का काम मेरे शिरपर पडा नहीं था इसलिये यह सब बातें मुझे सूझती थीं। अब मुझे यह पक्का विश्वास होगया है कि जवाबदारी जब तक नहीं आपडती तब तक सिद्धि प्राप्ति के लिये नजदीकी का मार्ग ढूंढ

निकालना सहज है। परंतु जबाबदारी आ पडने पर जो कठिन है वह कठिन और सदा कठिन रहेगा। यद्यपि यह ठीक है कि इस प्रकार का विश्वास कुछ अधिक आनन्द दायक नहीं है पर सिद्धि प्राप्त करने का नजदीकी मार्ग ढूंढ निकालना भी तो कम त्रासदायक नहीं है। राजमार्ग छोडकर अड रस्ते चलने से यद्यपि चलना थोडा पडता है पर उस रास्ते में जो कांटे, पत्थर आदि से सामना करना पडता है उसका क्या उपाय ?।

इस प्रकार उक्त कक्षा में एक वर्ष पूर्ण कर लेने पर पंडित मधुसूदन वाचस्पति ने हमारी 'बंगाली' भाषा की परीक्षा ली। सम्पूर्ण कक्षा में मुझे सबसे अधिक नंबर मिले। इस पर शिक्षकों ने शालाधिकारियों से यह शिकायत की कि मेरे सम्बन्ध में पक्षपात किया गया है। इसलिये शाला के व्यवस्थापक ने अपने सामने परीक्षक के द्वारा मेरी फिर परीक्षा ली और इस बार भी मैं पहले नंबर उत्तीर्ण हुआ।

प्रकरण छठवां

काव्य रचना।

उस समय मेरी अवस्था आठ वर्षों से अवश्य ही अधिक नहीं थी। मेरे पिता की बुआ का एक 'ज्योति' नामक लडका

था। वह मेरी अपेक्षा, अवस्था में बहुत बडा था। अंग्रेजी साहित्य में उसका अभी प्रवेश ही हुआ था। इसलिये वह हेम्लेट का स्वगत-भाषण बडे आविर्भाव के साथ बोला करता था। यद्यपि मेरी अवस्था छोटी थी तोभी ज्योति को यह विश्वास हो गया था कि मैं अच्छी कविता कर सकूंगा। वास्तव में देखा जाय तो इस प्रकार के विश्वास का कोई भी कारण नहीं था। एक दिन दुपहर के समय ज्योति ने मुझे अपनी कोठरी में बुलाया और एक कविता की रचना करने के लिये कहा। साथ में चौदह अक्षरों के वृत्तकी रचना करना भी उसने मुझे बता दिया।

उस दिन तक छपी हुई पुस्तकों के सिवाय दूसरी जगह मैंने लिखी हुई कविता नहीं देखी थी। छपी हुई पुस्तकों की कविता में लिखने की भूल, काटा पीटी, कुछ नहीं होती। कितना ही प्रयत्न करने पर भी इस प्रकार की कविता, मैं कर सकूंगा, इस बात की कल्पना करने की धृष्टता भी मुझसे नहीं होसकती थी। एक दिन हमारे घर में एक चोर पकडा गया। उस समय चोर कैसा होता है? यह देखने की मुझे बडी भारी जिज्ञासा थी। अतः जहां पर वह चोर रखा गया था मैं डरते डरते वहां गया। मुझे यह देखकर बडा आश्चर्य हुआ कि वह भी एक सामान्य मनुष्य जैसा मनुष्य है। उसमें और दूसरे मनुष्यों में कुछ भी अन्तर मुझे नहीं दिखलाई पडा। इसलिये दरवाजे पर के पहरेवालों को उसके

साथ बुरा व्यवहार करते देखकर मुझे बडी दया आई। काव्य रचना के सम्बन्ध में भी मुझे इसी प्रकार का अनुभव हुआ। पहले तो इस सम्बन्ध में मुझे बडा भय मालूम होता था। परन्तु ज्योति के कहने पर मैंने अपनी इच्छा के अनुसार कुछ शब्द एक स्थान पर एकत्रित किये। देखता हूं तो पामर वृत्त, वही पामर वृत्त, जिसकी रचना के नियम ज्योति ने मुझे समझा दिये थे तैयार होगया है। अब तो काव्य रचना में यश प्राप्ति होने के सम्बन्ध में मुझे कुछ भी संदेह नहीं रहा। जिस तरह पहरेदारों को चोर के साथ बुरा व्यवहार करते देख मुझे खेद हुआ था उसी प्रकार अयोग्य लोगों के द्वारा काव्य देवता की विटम्बना होते देख मुझे आज भी बहुत खेद होता है। देवता के प्रति होने वाले व्यवहार को देखकर मुझे कई बार अनुकम्पा आई होगी; पर मैं कर ही क्या सकता हूं ?। आक्रमण करने के लिये अधीर होनेवाले हाथों को वलात् रोक रखने की शक्ति मेरे में कहां है ?। काव्य देवता को आजतक जितने कष्ट सहन करना पडे होंगे, उसे जितने हाथों ने कुरूप बनाने की चेष्टा की होगी, उतने कष्ट चोरों को भी नहीं उठाने पडे होंगे और न उतने हाथों का उन्हें स्पर्श ही हुआ होगा।

पहले पहल मालूम होने वाला भय इस प्रकार नष्ट हो जानेपर काव्य रचना के सम्बन्ध में मैं स्वैर संचार करने लगा। मुझे रोकनेवाला भी कौन था ?। हमारी जमीदारी की

व्यवस्था करनेवाले एक अधिकारी की कृपा से मैंने एक नीले कागज की कोरी किताब प्राप्त की और उसपर पेंसिल से लकीरें खींचकर छोटे लडकों के लिखने के समान मैं कविता लिखने लगा। तुरन्त के निकले हुए छोटे २ सींगों के भल इधर उधर छलागें मारने वाले हिरण के बालक के समान मेरी नवीन उदय में आने वाली काव्य रचना का मेरे बडे भाई को इतना अभिमान हुआ कि उसने उस रचना को एक जगह पडे रहने नहीं दिया। सारे घर में उसके लिये हमें श्रोता ढूंढना पडे। मुझे ऐसा याद है कि जमींदारी के अधि-कारियों पर हम दोनों के विजय प्राप्त कर लेने पर जब हम जमींदारी के कार्यालय से बाहिर निकले तो हमें रास्ते में नेशनल पेपर के सम्पादक नव गोपाल मित्र आते हुए मिले। कुछ प्रस्तावना न करते हुए मेरे भाई ने उनसे कहा, देखो नवगोपाल बाबू हमारे रवि ने एक कविता की है वह तुम्हें सुनना चाहिये। बस उत्तर का रास्ता कौन देखता है?। तुरंत ही मैं कविता पढने लगा। मेरी काव्य रचना इस समय प्रचन्ड नहीं हुई थी। बह बहुतही मर्यादित दशा में थी। कवि अपनी सब कविता अपने खीसे में रख सकता था। कविता को रचने वाला, छापने वाला और उसे प्रसिद्ध करने वाला अकेला मैं ही था।

मेरा भाई इस काम में भागीदार था। वह मेरी कविता के प्रचार के लिये विज्ञापन का काम करता था। यह कविता कमल

पुष्प पर बनाई थी। जितने उत्साह से मैंने उसकी रचना की थी उतने ही उत्साह से मैंने वह कविता उसी समय और उसी स्थानपर, जीने के नीचे ही नवगोपाल बाबू को गाकर सुना दी। नवगोपाल बाबू ने हंसते हंसते कहा कि 'बहुत अच्छी है' यह 'द्विरेफ' क्या चीज है?। द्विरेफ शब्द की उत्पत्ति मैंने कहां से की थी, यह मुझे आज याद नहीं है। यद्यपि एकाध दूसरे साधे शब्द से भी वह छन्द जम सकता था, परन्तु उस कविता में 'द्विरेफ' शब्दपर हमारी आशा का डोरा झूल रहा था। हमारे कार्यालय के कर्मचारियों पर तो इस शब्द ने बहुत ही अधिक प्रभाव डाला था; परन्तु नवगोपाल बाबू ने आश्चर्य है कि उस शब्द का कुछ भी मूल्य नहीं समझा। और इतना ही नहीं वे साथ में हँसे भी। उनके इस व्यवहार से मैंने निश्चय किया कि काव्य में इन महाशय की कुछ गति नहीं है। इसके बाद मैंने फिर कभी अपनी कविता उन्हें नहीं सुनाई। इस बात को आज बहुत वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, और मेरी अवस्था भी बहुत अधिक हो गई है, तो भी मुझे इस बात का ज्ञान अभी तक नहीं हुआ कि मेरी कविता पढने वालों की रसिकता किस प्रकार अजमाई जाय, और उन्हें काव्यानन्द प्राप्त हुआ या नहीं यह किस प्रकार जाना जाय?। नवगोपाल बाबू भले ही और कितना ही हंसे हों पर मधुपानमें लीन हुए मधुकर के समान द्विरेफ शब्द अपने स्थान पर चिपटा ही रहा।

प्रकरण सातवां

विविध शिक्षण।

हमारी शाला का अध्यापक हमें घर पर सिखाने को आया करता था। उसका शरीर रूखा था। उसकी नाक, आंख आदि में चमक नहीं थी। आवाज में कठोरता थी। मूर्तिमान बेंत की छडीसा उसका शरीर था। सुबह साडे छह बजे से नौ बजे तक उसका समय नियत था। उसने हमें बंगाली वाङ्मय विषयक—शास्त्रीय क्रमिक पुस्तकों को छोडकर—' मेघनाद वध ' महा-काव्य पढाना शुरू किया। मेरा तीसरा भाई मुझे भिन्न भिन्न विषयों का ज्ञान कराने में बहुत तत्परता दिखलाता था। इस कारण शाला के अभ्यास की अपेक्षा हमें घर पर बहुत अधिक सीखना पडता था। बडी सुबह उठकर लंगोट पहिन एक अंधे पहलवान के साथ हमें कुश्ती की एक दो पकड सीखना पडती थी। उसके बाद मिट्टी भरे हुए शरीर पर ही कपडे पहिन कर भाषा, गणित, भूगोल और इतिहास का अभ्यास करने में जुटना पडता था। शाला से घर वापिस आने पर हमें चित्रकला और व्यायाम सिखाने वाले शिक्षक तैयार मिलते थे। इस तरह रात के नो बजे के बाद हमें सब कामों से छुट्टी मिलती थी।

रविवार के दिन सुबह, विष्णु हमें गायन सिखाता था। उसी प्रकार वैज्ञानिक प्रयोग बतलाने के लिये प्रायः सीतानाथ

दत्त भी प्रत्येक रविवार को आया करते थे। इनके दिखलाये हुए प्रयोगों में से एक प्रयोग मुझे बहुत ही पसंद आया। एक कांच के बरतन में पानी भरकर उसमें उन्होंने लकडी का भूसा डाला और उस बरतन को आगी पर चढा दिया। हमें यह दिखलाया गया कि ठंडा पानी किस तरह नीचे गया और तपा हुआ पानी किस तरह ऊपर आया। तथा यह क्रम चलते हुए पानी किस तरह उकलने लगा। उनके इस प्रयोग से मुझे कितना आश्चर्य हुआ था, यह मुझे आज भी याद है। दूध से पानी अलग किया जासकता है और दूध को ओटने पर दूध से पानी भाफ बन कर अलग हो जाता है और दूध उँट जाता है, इतना भारी ज्ञान उस दिन होने पर मैं बहुत चकरा गया था। सीतानाथ बाबू यदि रविवार को नहीं आते थे तो वह दिन रविवार सा प्रतीत नहीं होता था।

शरीर की हड्डियों का परिचय कराने के लिये भी एक घंटा समय नियत था। यह परिचय कराने के लिये केवल मेडिकल स्कूल का एक विद्यार्थी आया करता था। तारों से बंधा हुआ मनुष्य देह का अस्थि पंजर हमारे कमरे में रख दिया गया था। इन सब से अन्त की बात यह है कि संस्कृत व्याकरण के नियमों को कंठस्थ कराने लिये भी हेरंब तत्वरत्न ने समय नियत कर दिया था। संस्कृत व्याकरण के नियम कंठस्थ करने में मख को अधिक श्रम करना पडता है

या हड्डियों के नाम याद करने में, यह मैं निश्चय पूर्वक कहने में असमर्थ हूं। पर मुझे यह विश्वास है कि इस सम्बन्ध में व्याकरण के सूत्र ही पहिला नंबर फटकारेंगे।

उक्त सब विषय हमें बंगाली में सिखाये जाते थे। इनमें हमारी प्रगति हो जाने पर हमें अंग्रेजी पढाना आरम्भ हुआ। हमें अंग्रेजी सिखाने के लिये अघोर बाबू नियत थे। अघोर बाबू स्वतः मेडिकल कालेज के विद्यार्थी होने के कारण हमें सिखाने के लिये संध्या समय आते थे। पुस्तकों में हम यह पढा करते हैं कि मनुष्य की सम्पूर्ण खोजों में अग्नि की खोज अधिक महत्व की है। मैं इस विषय में शंका नहीं करना चाहता; परन्तु मुझे तो छोटे पक्षियों के माता पिताओं को जो सन्ध्या समय दिया जलाना नहीं आता सो यह उन बच्चों का सौभाग्य ही मालूम होता है। प्रातःकाल होते ही उन्हें अपनी मातृभाषा के पाठ सीखनेको मिलते हैं और प्रत्येक ने देखा होगा कि वे अपने पाठ कितने आनन्द से सीखते हैं। हां अवश्य ही उन्हें अंग्रेजी नहीं आती। वे तो अपनी मातृभाषा ही सीखते हैं।

हमारे अंग्रेजी भाषा के शिक्षक का शरीर हाट्ट कट्टा था। अगर हम तीनों विद्यार्थी मिलकर कोई षडयन्त्र करते और चाहते कि कम से कम एक दिन ये न आवें तो भी हमें सफलता नहीं मिलती। हां एक वार कुछ दिनों तक ये न आ सके थे।

क्योंकि मेडिकल कालेज के हिन्दू और ईसाई लडकों के झगडे में किसी ने इनके सिर पर कुरसी फेंक कर मारी थी जिससे इनका सिर फूट गया था। यह एक प्रकार का उन पर संकट ही आगया था, पर थोडे ही दिनों में उन्हें आराम होगया। उनके इस संकट से हमें यह नहीं मालूम हुआ कि यह संकट हमारे पर आया है किन्तु हमें तो यही आश्चर्य हुआ कि यह इतने शीघ्र तन्दुरुस्त क्यों हो गये।

एक दिन की मुझे अच्छी तरह याद है कि सन्ध्या हो गई थी। पानी बरस रहा था। हमारे मुहल्ले में घुटने तक पानी भरा हुआ था। हौज का पानी बाग में बहने लगा था। वेले के झाडों के झुब्बेदार शिरे पानी पर तैरते हुए मालूम होते थे। कदम्ब पुष्प से निकलती हुई सुगंधि के समान इस आल्हादकारक वर्षा-युक्त सन्ध्या काल में हमारे हृदय में आनन्द के झरे फूट ने लगे और हम सोचने लगे कि अब दो तीन, मिनिटों के वाद ही शिक्षक बाबू के आने का समय निकल जायगा। परन्तु यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता था। हम दुःखित नेत्रों से अपने मुहल्ले की ओर देखते हुए शिक्षक महाशय की वाट जोह रहे थे इतने ही में हमारी छाती में धडाका हुआ। और हमें मालूम हुआ कि मूर्छा आई जाती है। क्योंकि इस मूसलाधार वर्षा की परवाह नहीं करते हुए हमारी चिरपरिचित काली छत्री हमारी ओर आती

हुई दिखलाई पडी। सन्देह हुआ कि आने वाली व्यक्ति कोई दूसरी होगी, पर नहीं, इस समय दूसरा कोन घर से बाहिर निकलेगा। ऐसे तो हमारे शिक्षकही थे जिनके समान शायद ही जगत में कोई दुराग्रही हो।

उनके कार्य्य-काल की सब ओर से परीक्षा करने पर यह नहीं कहा जा सकेगा कि अघोर बाबू कटुस्वभाव के पुरुष थे। उन्होंने हमसे कभी कठोर व्यवहार नहीं किया। यद्यपि वे हमसे नाराजी के स्वर में बोला करते थे; परंतु उन्होंने हमसे रगड पट्टी कभी नहीं कराई। उनमें प्रशंसा के योग्य गुण भले ही भरे हों; पर उनके पढाने का समय और विषय अवश्य ऐसे थे जो हमें कभी रुचिकर नहीं हुए। पाठशाला में सम्पूर्ण दिवस त्रास पाकर ऊबे हुए चित्त से सन्ध्या के समय घर पर आये हुए बालक को यदि देव—दूत भी पढाने आवे और वह टिमटिमाते हुए दीपक के प्रकाश में अंग्रेजी पढाना प्रारम्भ करे तो वह उसे यमदूत सा ही प्रतीत होगा। हमारे उक्त शिक्षक महाशय ने अंग्रेजी भाषा की मोहकता का हमें विश्वास कराने के लिये एक बार कितना प्रयत्न किया था, इसका मुझे अच्छा स्मरण है। वह प्रयत्न यह था कि उन्होंने एक अंग्रेजी पुस्तक में से कुछ अंश हमें इस रीत से सुनाया था जिससे कि हमें आनन्द मालूम हो। उसे सुनकर हम नहीं समझ सके कि यह गद्य है या

पद्य, साथ में उस सुनाने का परिणाम भी विपरीत ही हुआ। अर्थात् सुनकर हम लोग इतने ज्यादह हंसे कि हमारे शिक्षक महाशय को उस दिन पढाना ही छोडना पडा। उन्हें यह जानना चाहिये था कि बालकों का मन अपने समान एक दो रोज में नहीं हो सकता किन्तु यह विवाद तो वर्षों तक मिटने वाला नहीं है।

हमारी पाठशाला में सिखाये वाने वाले सर्व विषय प्रायः रूखे थे। इस लिये अघोर बाबू शाला के नीरस विषयों की अपेक्षा दूसरे विषयों से ज्ञानामृत का हम पर सिंचन करके हमारी थकावट मिटाने का कभी कभी प्रयत्न किया करते थे। एक दिन उन्हों ने अपने खीसे में से कागज से लिपटी हुई कोई चीज निकाली। और कहा कि आज तुझें मैं विधाता का एक चमत्कार बतलाता हूं। ऊपर का कागज निकाल डालने पर उस में से मनुष्य का चेहरा उन्होंने बाहर निकाला और चेहरे के द्वारा मनुष्य के मुख की इन्द्रिय-रचना उन्होंने हमें समझाई। उस समय मेरे मन पर जो धक्का लगा उसकी मुझे आज तक याद है। मुझे यह विश्वास था कि मनुष्य का सम्पूर्ण शरीर ही बोलता है। कोई एकाध इंद्रिय के द्वारा बोलने की स्वतंत्र क्रिया होती है, इसकी मुझे कल्पना ही नहीं थी। किसी अवयव की रचना भले ही चमत्कार पूर्ण हो पर वह सम्पूर्ण मनुष्य शरीर की अपेक्षा तो हीन ही रहेगी, इस में सन्देह नहीं। यह विचार उत्पन्न होने के

लिये उस समय मुझे इतने शब्दों का प्रयोग नहीं करना पडा था, पर यह एक कारण था जिससे मेरे मन पर उस समय धक्का लगा था। दूसरी बार एक दिन वे हमें मेडिकल कालेज में मनुष्य के शव को फाडने चीरने की जगह पर ले गये थे। एक वृद्ध स्त्री का शव टेबिल पर रखा हुआ था। उसे देखकर मुझे कुछ भी अटपटा सा नहीं मालूम हुआ। परन्तु जमीन पर काटकर डाली हुई उसकी टंगडी देखते ही मैं बेहोश गया। छिन्न भिन्न स्थिति में किसी मनुष्य को देखने का यह प्रसंग मुझे इतना भय-प्रद और घृणित प्रतीत हुआ कि कितने ही दिनों तक वह सर्व दृश्य और वह काले रंग की टंगडी मेरे दृष्टि के आगे से दूर नहीं हुई।

'प्यारी सरकार' द्वारा रचित पहली और दूसरी पुस्तक पढ लेने के वाद हम 'मेककुलों' की पुस्तकें पढने लगे। शाम के समय हमारा शरीर थका हुआ रहता था। घर जाने के लिये हमारा मन उत्सुक होता था। ऐसे समय में काले पुट्ठे की कठिन शब्दों से भरी हुई पुस्तक हमें सीखना पडती थी। उसमें भी विषय इतना नीरस होता था जिसकी सीमा नहीं। इसका कारण यह था कि उस समय श्री सरस्वती देवी ने अपना मधुर मातृ भाव प्रगट नहीं किया था। आजकल के समान उस समय पुस्तकें सचित्र नहीं रहती थीं। इसके सिवाय प्रत्येक पाठ रूपी चोकी पर शब्दों रूपी द्वारपालों की

पंक्ति, संधि और स्वराघातों के आडे तिरछे चिन्हों की संगीनों को कंधों पर रख कर बालकों को अडाने के लिये रास्ते में खडी रहती थी। उन पंक्तियों पर मैं (एक के बाद दूसरी पर) आक्रमण करता था; पर मेरे सब आक्रमण व्यर्थ जाते थे। हमारे शिक्षक दूसरे विद्यार्थियों का उदाहरण देकर हमें लज्जित करते थे और उससे हमें विषाद होता, ग्लानि होती और उस चतुर विद्यार्थी के सम्बन्ध में मन कलुषित भी होता पर इसका उपयोग क्या ?। इससे उस काले पुट्ठे की पुस्तक का दोष थोडे ही हमारे मन से दूर हो सकता था।

मानव जाति पर दया करके जगत की सम्पूर्ण उवा देने वाली बातों में विधाताने बेहोशी की औषधि डाल दी है। हमारा अंग्रेजी पाठ प्रारम्भ होते ही हम ऊंगने लगते थे। आंखों में पानी लगाना और बरामदे के नीचे दौड लगाना आदि उवासी को दूर करने के उपाय थे और इससे निद्रा का नशा क्षण मात्र के लिये कम भी हो जाता था; पर फिर वही क्रम शुरू होता था। कभी कभी हमारे बडे भाई उधर से निकलते और हमें निद्राकुल देखते तो बस अब रहने दो, यह कहकर हमारा छुटकारा करा देते थे। और जहां इस प्रकार हमें छुट्टी मिली कि फिर ऊंग भी न मालूम कहां भाग जाती थी।

प्रकरण आंठवां

मेरा प्रथम बहिर्गमन।

एक वार कलकत्ते में ज्वर की बीमारी फैली इसलिये हमारे बडे भारी कुटुम्ब में से कुछ लोगों को छटटू बाबू के नदी तीर वाले उद्यान-गृह में जाकर रहना पडा था। इन लोंगों में हम-बालक-भी शामिल थे।

अपना घर छोडकर दूसरी जगह रहने का यह मेरा पहला ही प्रसंग था। पूर्वजन्म के प्रेमी-मित्र के समान गंगा नदी ने मुझे अपनी गोद में बैठाकर मेरा स्वागत किया। उस उद्यान गृह में नोकर चाकरों के रहने की जगह के आगे जाम के झाडों का एक बाग था। बरामदे में इन वृक्षों की छाया के नीचे बेठ कर उन की डालियों के बीच में से गंगा नदी को देखता हुआ मैं दिन निकाला करताथा। रोज सुबह उठने पर मुझे ऐसा मालूम होता था कि मानो सुनहरी हाँसिये से विभूषित कुछ नवीन समाचार देने वाले पत्र के समान दिन मेरे पास आ रहा है। ऐसे अमूल्य दिन का क्षण भर भी व्यर्थ न जाने देने के लिये मैं जल्दी जल्दी स्नान करता था और बरामदे में अपनी कुर्सी पर जा बेठता था। गंगा में रोज भरती ओटी आया करती थी। भिन्न २ प्रकारकी बहुतसी नोकाएं इधर से उधर घूमती दिखलाई पडती थीं। प्रातःकालमें पश्चिमाभिमुख दिखने वाली वृक्षों की छाया शाम के समय

पूर्वाभिमुख दिखलायी पडती थी। सूर्य नारायण की किरणें शायँकाल के समय आकाश से पृथक होकर उस ओर के तट पर के वृक्षों की छाया के पास जा पहुंचती थी। कभी कभी सुबह से ही आकाश मेघों से व्याप्त हो जाता था। ऐसे समय में उस ओर की झाडी में अन्धकार रहता था और वृक्षों की काली छाया नदी के जल में हिलती हुई दिखलाई पडती थी। इतने में ही जोर से वृष्टि होने लगती थी। चारों दिशाओंके धूसर हो जाने के कारण क्षितिज का दिखना बंद होजाता था। वर्षा बन्द हो जाने पर वृक्ष-छाया में से अश्रु से पडने लगते। नदी का पानी बाढ के कारण बढने लगता था और वृक्ष की छाया को हिलाती हुई ठन्डी ठन्डी भीनी हवा बहुत जोर से चलने लगती थी।

मुझे प्रतीत होता था कि घर की दीवालों, मगरों और म्यालों के पेट में से घर से बाहिर के जगत में मेरा नवीन जन्म हुआ है। साथ में ऐसा मालूम होता था कि बाह्य वस्तुओं से नूतन परिचय करने के कारण मेरी घृणित एवं हीन आदतों का आच्छादन, जगत् और मेरे बीच में से दूर हो रहा है। सुबह के समय मैं पूडी के साथ साथ राव खाता था। उसका स्वाद अमृत से कम नहीं होता था, क्योंकि अमरत्व अमृत में नहीं है किन्तु प्राशन करने वाले में है और इसीलिये वह ढूंढने फिरने वालों के हाथ नहीं लगता है।

घर के पीछे दीवालों से घिरा हुआ एक चोक था जिसमें एक छोटासा हौज बना हुआ था। इसके ऊपर स्नान करने की जगह थी। और पानी तक सीढियां बनी हुई थीं। एक और जामुन का विशाल वृक्ष खडा हुआ था और हौज के आसपास कई प्रकार के घने फल-वृक्ष लगे हुए थे जिनकी कि छाया में वह हौज ऐसा मालूम होता था मानों कोई छिप कर बैठा हो। घर के भीतरी भाग के इस छोटे से एकान्त बागीचे के बुरखे में जो सौन्दर्य छिपा हुआ था उसने, घर के सामने के नदी किनारे पर के सौंदर्य ने मुझपर जो मोहजाल डाला था उससे भिन्न प्रकार का मोहजाल फैला रखा था। स्वतः काढे हुए कशीदों वाले तकिये पर दुपहर के समय एकान्त स्थान में अंतःकरण के छुपे हुए बिचारों को गुनगुनाती हुई विश्राम करने बाली नवबधू के समान उस बाग की रमणीयता मालूम होती थी। उस हौज के भीतर कहीं छिपे हुए यक्ष के भीत-प्रद राज्य का स्वप्न देखता हुआ मैं जामुन के वृक्ष के नीचे दुपहर के समय घन्टों व्यतीत कर देता था।

बंगाली खेडे कैसे होते हैं, यह देखने की मुझे बहुत इच्छा थी। उनके घरों का समूह, वहां के घरों के आगे के मण्डप, छोटे छोटे मुहल्ले, स्नान करने के पानी के छोटे छोटे हौज, खेल, बाजार, खेत, दूकान, वहां का साधारण जीवन, रहन सहन आदि बातों का मेरी कल्पना ने जो चित्र खींच

रखा था उससे मेरा चित्त और अधिक आकर्षित होता था। ठीक इसी प्रकार का खेडा हमारे घर की दीवाल के सामने दिखलाई पडता था; पर वहां जाने की मनाही थी। यद्यपि हम कलकत्ते से बाहर तो आगये थे; पर हम वन्ध मुक्त नहीं हुए थे। पहले हम (कलकत्ते में रहते समय) पिंजरे में बन्द थे। इस समय पिंजरे से तो बाहिर हो गये थे; पर हमारे पांव में जो सांकल पडी हुई थी उससे हम मुक्त नहीं हुए थे।

एक दिन सुबह हमारे वृद्धजनों में से दो पुरुष घूमने फिरने के लिये उस खेडे की ओर जानेको निकले। उस समय मैं अपनी इच्छा एक क्षण भर के लिये भी नहीं रोक सका। इसलिये उन्हें बिना मालूम हुए मैं धीरे से उनके पीछे पीछे कुछ दूर तक चला गया।

मैंने देखा कि एक मनुष्य उगाढे आंग पानी में खडा हुआ अपने शरीर पर इधर उधर पानी डाल रहा है और दांतोन को चबाता हुआ दांत घिस रहा है, यह दृश्य आज भी मेरी आंखों के सन्मुख खडा हो जाता है। मैं यह सब देखते देखते उन लोगों के पीछे जा रहा था। इतने में ही उन लोगों को यह बात मालूम होगयी कि मैं भी उनके पीछे पीछे आ रहा हूं। बस नाराज होकर कहने लगे कि 'जा वापिस लौट जा'। उस समय मैं उघाडे पांव था। धोती भी नहीं पहिनी थी। सिर्फ कोट ही पहिने हुए था।

अर्थात् बाहिर जाने योग्य पोशाख मैंने नहीं की थी। वस इसी पर वे कहने लगे कि ऐसी हालत में हमारे साथ चलने से लोग हमें हंसेंगे ?। पर यह क्या मेरा अपराध था। अभी तक मुझे पैरों के मोजे नहीं ले दिये गये थे और न दूसरे कपडे ही थे जिससे मैं सभ्यपने की पोशाख कर सकूं। मुझे भगा देने से मैं निराश होकर अपने स्थान पर लोट आया। और फिर कभी बाहिर निकलने का मुझे अवसर नहीं मिला। इस प्रकार यद्यपि घरके उस ओर क्या है ? यह देखने की मुझ मनाही हो गयी; पर घरके आगे वाली गंगानदी ने इस गुलामगिरी से मेरी मुक्तता कर रखी थी। आनन्द से घूमने वाले मछुए (डोंगे) में बैठकर मेरा मन अपनी इच्छा के अनुसार भूगोल की किसी भी पुस्तक में न मिलने वाले दूर दूर के देशों में जा पहुंचता था।

इस बात को चालीस वर्ष हो चुके हैं। चम्पकच्छाया से अच्छादित उद्यान-गृहमें उसके बाद फिर मैंने कभी पांव नहीं रखा। संभव है कि वही जूना पुराना घर और उसके आस पास के पुरातन वृक्ष आज भी वहां होंगे; पर मुझे यह विश्वास नहीं होता कि वे सब वस्तुएं पहिले के ही समान होंगी। क्योंकि जिसे दिन व दिन नवे नवे आश्चर्य होते थे, वह मैं अब पहले जैसा कहां रहा हूं ?।

मेरी वहिर्गमन की यह स्थिति पूर्ण हो गई। मैं शहर के 'जोडे सांकू' वाले घर में लौट आया। मगर मच्छ के समान

पसरी हुई अध्यापक शाला के मुँह में मेरे दिन कौर के समान एक के बाद एक जाने लगे।

प्रकरण नौवां

मैं कविता करने लगा।

आडी खडी रेखाओं के जाल में टेढे तिरछे अक्षरों के लिखने से मधु-मक्खी के छत्ते के समान वह नीली कोरी पुस्तक भर गयी और फिर शीघ्र ही बाल-लेखक के उत्कंठा पूर्ण दबावसे उसके पन्ने भी फट गये। उसके बाद कोने भी घिस कर जीर्ण हो गये और भीतर की लिखी हुई कविता को खूब पकड रखने के लिये ही मानों उस पुस्तक की गुडी मुडी हो गयी। फिर मालूम नहीं किस वैतरणी नदी में दयालु काल ने उस पुस्तक के पृष्ठ हडप कर दिये। कुछ भी हुआ हो; पर यह ठीक है कि छापखाने की वेदना से उसका छुटकारा हो गया और इस संसारगर्त में फिर जन्म लेने का भय उसे नहीं रहा।

सत्कारीबाबू हमारे वर्ग के शिक्षक नहीं थे तो भी मैं उन्हें बहुत प्रिय था। उन्होंने प्राणीशास्त्र के इतिहास पर एक पुस्तक लिखी थी। कोई भी निर्घृण विनोदी लेखक इस पुस्तक में मेरे पर के प्रेम का कारण ढूँढने का प्रयत्न नहीं करेगा, ऐसी आशा है। एक दिन उन्होंने मुझे बुलाया और पूछा

कि 'तू कविता बनाता है न'?। मैं भी सच्ची बात क्यों छिपाऊँ? मैंने कहा 'हां'। तब से समस्या पूर्ति करने के लिये मुझे सदा दो दो चरण देने लगे।

हमारी पाठशाला के गोविन्द बाबू रंग से काले, ठिंगने कद के और शरीर से खूब मोटे थे। वे व्यवस्थापक थे। काली पोशाख पहिनकर दूसरे मंजिल पर कार्यालय की कोठरी में हिसाब की बहियां देखते हुए वे बैठे रहते थे। अधिकार दंड ग्रहण किये हुए न्यायधीश के समान उनकी गम्भीर मुद्रा से हम सब बहुत डरते थे। पाठशाला में कुछ बदमाश विद्यार्थी भी थे। वे हमें बहुत त्रास दिया करते थे। इस लिये एक बार उनके त्रास से अपना छुटकारा कराने के लिये उन लोगों की नजर चुकाकर मैं गोविन्द बाबू की कोठरी में घुस गया। वे विद्यार्थी मुझसे अवस्था में बडे थे। उन्होंने मेरे विरुद्ध षड्यन्त्र रचा। उस समय मेरे आंसुओं के सिवाय दूसरा कोई विद्यार्थी मेरी ओर से बोलने वाला नहीं था। परन्तु मेरी विजय हुई और तबसे गोविन्दबाबू के अन्तःकरण में एक छोटासा कोमल स्थान मुझे प्राप्त होगया।

एक दिन बीच की छुट्टी में उन्होंने मुझे अपनी कोठरी में बुलाया। डर से कांपते कांपते मैं उनके पास गया। मेरे पहुँचतेही उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या तूं कविता बनाता है?। मैंने भी किसी प्रकार की आना कानी न कर कहा कि 'हां

बनाता हूं '। उन्होंने एक उच्च नीति-तत्व पर कविता बनाने की मुझे आज्ञा दी। वह कौनसा तत्व था इसका मुझे अब स्मरण नहीं है। उनकी इस विनंती में कितनी सौजन्यता और निरभिमानता थी यह उनके विद्यार्थी ही समझ सकते है, मैं दूसरे दिन कविता बनाकर ले गया। तब उन्होंने सब से बडी कक्षा में लेजाकर मुझे वहां के विद्यार्थियों के आगे खडा किया और कविता पढनेका हुक्म दिया। तब मैंने वह कविता उच्च स्वर से पढकर सुनादी।

इस नैतिक-कविताकी प्रशंसा करने में अब एक ही हेतु है और वह यह कि वह कविता तुरन्त ही खो गयी। उस कक्षाके विद्यार्थियों के मन पर कविता का परिणाम निराशा जनक ही हुआ। उनमें कविता रचने वाले के प्रति आदर बुद्धि उत्पन्न न होकर उन्हें यही विश्वास हुआ कि यह कविता किसी दूसरे की बनाई हुई होगी। और एक विद्यार्थी ने तो यह कहा भी कि जिस पुस्तकमें से कविता उतारी गयी है उस पुस्तक को कल मैं ला भी दूंगा। परन्तु उस से पुस्तक लाने के सम्बध में किसी ने आग्रह नहीं किया। जिन्हें किसी बात पर विश्वास ही करना होता है उन्हें उसके प्रमाण एकत्रित करना त्रासदायक मालूम होता है। अन्त में काव्यकर्ता की कीर्ति के पीछे पडने वालों की संख्या बहुत अधिक बढ गयी और उन्होंने इसके लिये नैतिक मार्ग से भिन्न मार्ग का आश्रय लिया।

आजकल छोटे बालक द्वारा कविता रचना कोई विशेष महत्व का नहीं माना जाता। काव्यका असर भी प्रायःनष्टसा होगया है। उस समय जो थोडीसी स्त्रियां कविता बनाया करती थीं उन्हें ' बिधाता की अलौकिक सृष्टि ' की पदवी किस प्रकार प्राप्त होती थी इसका मुझे आज भी अच्छी तरह स्मरण है। आज तो यह दशा है कि यदि किसी से कहा जाय कि अमुक तरुण स्त्री कविता नहीं बना सकती तो उसे इस बात पर विश्वास ही नहीं होगा! आज कल तो बंगला-भाषा की उच्च कक्षा में जाने के पहले ही लडके और लडकियों में कवित्व का अंकुर फूटने लगता है। इसलिये मैंने जो ऊपर काव्य-विजय का वर्णन किया है उस ओर आज का कोई भी गोविन्द बाबू उझक कर भी नहीं देखना चाहेगा।

प्रकरण दसवां

श्रीकंठबाबू।

मेरे सुदैव से मुझे इस समय एक श्रोता मिल गया था। उसके समान दूसरा श्रोता मुझे कभी नहीं मिलेगा। इन में सदा आनन्द मय रहने की इतनी अमर्यादित शक्ति थी कि हमारे मासिक पत्रों में से किसी भी मासिक पत्र ने टीकाकार के स्थान के लिये उन्हें अयोग्य ही माना होता। वह वृद्ध

मनुष्य ठीक पके हुऐ आलफान्सों आम के समान था। इस इस आम में रेसा और खटाई बिल्कुल नहीं होती। इसका सिर व दाढी खूब घुटी हुई और चिकनी थी। इसके मुंह में एकभी दांत नहीं था। उसके बडे २ हँसते हुऐ से नेत्र सदा आनन्द से चमकते रहते थे। मृदु और गम्भीर स्वर में जब वे बोलने लगते थे तब ऐसा मालूम होता था कि उनके मुंह आंख आदि सब बोल रहे हैं। उन पर पहले की मुसलमानी सभ्यता का संस्कार था। अंग्रेजी का उनसे स्पर्श भी नहीं हुआ था। कभी न भूले जाने वाले उनके दो साथी थे। एक दहिने हाथ में हुक्का और दूसरा, गोदी में सितार। इनकी जोडी मिलते ही श्रीकन्ठ बाबू अलापने लगते थे।

श्रीकन्ठ बाबू को किसी से भी औपचारिक परिचय करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती थी। क्योंकि उनके आनन्दी और उत्साही अंतःकरण के आकर्षण की कोई भी उपेक्षा नहीं कर सकता था। एक बार फोटो निकलवाने के लिये वह हमें एक प्रसिद्ध फोटोग्राफर की दूकान पर ले गये। और अपनी गरीबी का व फोटो की अत्यन्त आवश्यकता का दूकानदार के आगे कुछ हिन्दी और कुछ बंगाली भाषा में ऐसा सरस वर्णन किया कि दूकानदार मोहित हो गया और उसने हँसते हँसते अपनी निश्चित दर से कुछ कम दर पर फोटो निकालना स्वीकार कर लिया। अंग्रेज दूकान दारों के यहां प्रायः भाव पहले

से ही ठहरे हुऐ रहते हैं। और कभी ज्यादह कम करने की वहां गुंजाइश नहीं रहती परन्तु श्रीकन्ठ बाबू ने वहां भी अपने लाघवी भाषण से काम बना लिया और यह नहीं मालूम होने दिया कि उनका बोलना नियम विरुद्ध है। श्री कन्ठ बाबू अत्यंत भावुक, सहृदय और दूसरे का उपमर्द करने के लिये स्वप्न में भी विचार करने वाला मनुष्य न था। वह कभी २ हमें एक यूरोपियन मिशनरी के घर ले जाया करता था। वहाँ भी उसका वही क्रम रहता था। हँसना, गाना, खेलना उसकी छोटी लडकी को खिलाना, मिश्नरी की स्त्री के पैरों की खूब स्तुति करना आदि। दूसरों से न हो सकने वाली बातों से वे मिश्नरी के घर पर बैठे हुए लोगों को प्रसन्न कर दिया करते थे। इस तरह हीनता पूर्वक व्यवहार करने वाला यदि वहां कोई दूसरा होता तो उसकी पशुओं में ही गणना होती; पर श्रीकन्ठ बाबू के सहज रीति से दिखलाई पडने वाले निष्कपट भाव से लोग खुश हो जाते और उनकी बातों में शामिल होते थे।

लोगों की उद्धतता का श्रीकन्ठ बाबू पर कुछ भी परिणाम नहीं होता था। उन दिनों हमारे यहां एक साधारण गवैया वेतन पर नियत किया गया था। शराबके नशेमें अंट शंट बोलकर वह श्रीकन्ठ बाबू के गाने का मनमाना मजाक उडायाकरता था; परन्तु श्रीकन्ठ बाबू प्रत्युत्तर देने का कुछ भी प्रयत्न न करके उसकी सब बातें बडे धैर्य के साथ सहन

करते थे। इतना ही नहीं किंतु जब उसके उद्दंड व्यवहार के कारण उसे निकाल दिया तब श्रीकन्ठ बाबू ने बडी सहानुभूति के साथ यह कह कर उस की सिफारिश की कि यह उसका दोष नहीं, उसके दारू पीने का दोष था।

किसी का दुःख देखने अथवा सुनने से उन्हें बहुत दुःख होता था। इसलिये यदि हम बालकों में से कोई बालक उन्हें कष्ट पहुंचाना चाहता तो वह विद्यासागर के बनवास में से कुछ भाग उनके आगे पढने लगता था। बस श्रीकन्ठ बाबू एकदम उसे पढने से रोक देते थे।

यह बृद्ध मनुष्य मेरे पिता बडे भाई और हम सब बालकों का प्यारा था। अवस्था में भी हम सबमें मिल जाया करता था। बडों में बडा और छोटे में छोटा बन जाना इसके लिये मामूली बात थी। जिस प्रकार पानी की लहरों के साथ खेलने और नाचने में सब प्रकार के पाषाण खण्ड एक से ही होते हैं, उसी प्रकार थोडी सी उत्तेजना मिलने पर श्रीकन्ठ बाबू आनन्द में भी बेहोश से हो जाया करते थे। एक प्रसंग पर मैंने एक स्तोत्र की रचना की। इस स्तोत्र में मैंने इस जगत में मनुष्य पर आनेवाले संकटों और उसकी परीक्षा की कसोटियों के प्रसंगों का उल्लेख करने में कसर नहीं की थी। मेरे इस भक्ति विषयक सुन्दर काव्य-रत्न से मेरे पिताजी को अवश्य बहुत आनंद होगा, इसका श्रीकन्ठ बाबू को पक्का विश्वास हो गया और इस अनिवार्य आनन्द के पूर में उन्होंने वह स्तोत्र स्वतः

जाकर मेरे पिता को बतलाना स्वीकार किया। सुदैव से उस समय वहां मैं नहीं था। परंतु पीछे से मैंने सुना कि इतनी छोटी अवस्था में अपने पुत्र को जगत के दुःखों ने इतना व्यथित किया कि उससे उसमें कवित्व शक्ति की स्फूर्ति उत्पन्न हो गई यह जानकर मेरे पिता को बहुत हँसी आई। हमारी पाठशाला के व्यवस्थापक गोविन्द बाबू ने इतने गंभीर विषय पर कविता करने के सम्बन्ध में मेरे प्रति अवश्य आश्चर्य दिखलाया होता और मेरी प्रतिष्ठा की होती।

गायन के सम्बध में श्रीकन्ठ बाबू का मैं चाहता शिष्य था। उन्होंने मुझे एक गायन सिखाया था और वह सुनाने के लिये वे हरएक के पास मुझे लेजाया करते थे। जब मैं गाने लगता था तब वे सितार बजा कर ताल देने लगते थे और जब में धुरपद पर्यन्त आता था तब वे भी मेरे साथ साथ गाने लगते थे। बार बार एक ही पद को बोल कर प्रत्येक सुनने वाले की ओर वे गर्दन हिला २ कर जिस प्रकार हँसते थे उससे यह मालूम होता था कि मानो श्री कन्ठ बाबू यह चाहते हैं कि लोग उनके गुण को जाने और उनकी प्रशंसा करें।

श्रीकंठ बाबू मेरे पिता के बडे प्यारे भक्त थे। 'वह ईश हमारे हृदयों का भी हृदय' इस भाव के बंगाली गायन को उन्होंने अच्छी तरह बैठा लिया था। मेरे पिता को यह गायन सुनाते समय श्रीकंठ बाबू को ऐसाकुछ आनन्द

का पूर आता था कि वे अपने स्थान पर से एक दम कूद कर खडे हो जाते थे और बीच बीच में बडे जोर से सितार बजाते हुए 'वह ईश हमारे हृदयों का भी हृदय' यह पद्य बोलते हुए मेरे पिता की ओर अपना हाथ बढा देते थे।

जिस समय यह वृद्ध पुरुष मेरे पिता से अंतिम भेंट करने के लिये आया उस समय पिताजी चिन्सुरा के नदी-तट वाले उद्यान-गृह में रोग-शय्या पर पडे हुए थे। श्रीकंठ बाबू भी उस समय इतने बीमार थे कि दूसरे की सहायता के बिना उनसे उठा बैठा नहीं जाता था। ऐसी स्थिति में भी वे वीर भूमि से चिन्सुरा अपनी पुत्री को साथ लेकर आये थे। बडे कष्ट से उन्होंने मेरे पिता की चर्ण--धूलि ली और फिर अपने घर चले गये। कुछ दिनों बाद वहीं उनका अन्त हुआ। उनकी पुत्री के द्वारा पीछे से मैंने सुना था कि अन्त समय 'कितनी मधुर दया प्रभु तेरी' यह स्तोत्र बोलते हुए उन्होंने प्राणोत्सर्ग किया था।

प्रकरण ग्यारहवां

बंगला शिक्षा का अन्त।

उस समय हम सब से ऊँची कक्षा की नीची श्रेणी में पढते थे। कक्षा में पढाये जानेवाले विषयों की अपेक्षा घर पर बंगाली में हमारी बहुत अधिक प्रगति हो गयी थी। अक्षय

बाबू की 'सुगम पदार्थ विज्ञान' नामक पुस्तक सीख चुके थे। इसके सिवा 'मेघनाद बध' नामक महाकाव्य भी हम पूरा बांच चुके थे। पदार्थ-विज्ञान-शास्त्र में वर्णित पदार्थों की सहायता के बिना उक्त 'सुगम–पदार्थ–विज्ञान' नामक पुस्तक पढने के कारण हमारा ज्ञान कोरा पुस्तकीय ज्ञान था। और इस कारण उसके पढने में जो समय लगा वह व्यर्थ ही गया। मुझे तो यह मालूम होता है कि यदि कुछ न पढ कर समय यों ही व्यतीत किया होता तो इससे अच्छा हुआ होता। 'मेघनाद वध' का विषय भी हमें आनन्द दायक नहीं था। भाषा की अत्यन्त सरलता का ज्ञान केवल बुद्धि सामर्थ्य से ही नहीं होता। भाषा सीखने के लिये महाकाव्य का उपयोग करना और सिर मूंडने के लिये तरवार का उपयोग करना, दोनों ही समान हैं। तरवार का अपमान और सिर का दुर्दैव। उसी प्रकार महाकाव्य की उपेक्षा और सीखने वाले के हिस्से में लाभ के नाम शून्य। काव्य सिखाने का उद्देश सुन्दर भावनाओं की उत्पत्ति और उनकी सार सम्भाल होना चाहिये। व्याकरण अथवा शब्द कोश का काम काव्य-देवता से लेने पर सरस्वती देवी कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकती।

अध्यापक–शाला में हमारा जाना एकाएक बन्द हो गया। कारण यह हुआ कि हमारे एक शिक्षक को श्रीयुत मित्र रचित हमारे पितामह के जीवन-चरित्र की प्रति की आवश्यकता थी। यह पुस्तक हमारी लायब्रेरी में थी। अतः

इसके लिये मेरे भांजे और सहाध्यायी सत्यने बडी हिम्मत करके यह बात मेरे पिता से कहना स्वीकार किया। सत्य का यह मत था कि मेरे पिता से सदा के रिवाज के अनुसार सादी बंगाली में बिनती करने से कुछ अधिक लाभ नहीं होता। अतः उसने जूनी भाषा पद्धति के द्वारा इतनी अच्छी तरह अपना कहना पिताजी से कहा कि उससे उन्हें यह विश्वास हो गया कि हमारा बंगाली भाषा का अभ्यास इतना अधिक होगया है, कि अब इससे अधिक पढाना लाभदायक नहीं है। अतः दूसरे दिन जब कि सदा के नियमानुसार दक्षिण की ओर के वरन्डे में हमारा टेबिल रख दिया गया था, दीवाल के खीले पर पटिया रखा हुआ था और नीलकमल बाबू से सीखने की सब प्रकार की तय्यारी हो रही थी कि पिताजी ने हम तीनों को ऊपर की मँजिल पर अपने कमरे में बुलाया और कहा कि आगे से तुम्हें बंगाली सीखने की जरूरत नहीं है। यह सुनते ही हम भी आनन्द से नाचने लगे।

हमारी पुस्तकें टेबिल पर खुली हुई पडी थीं। नीलकमल बाबू नीचे हमारी बाट देख रहे थे। और उनके हृदय में निःसंशय यह बिचार उत्पन्न हो रहे थे कि इन लडकों से एकवार मेघनाद वध और बचवा लिया जाय। परन्तु जिस प्रकार मृत्यु पथ में जाने वाले मनुष्य को नित्यक्रम की बातें भी असत्य मालूम होने लगती हैं उसी प्रकार क्षण मात्र में हमें भी हमारे पंडित जी से लेकर खीले तक सब वस्तुएं

मृगजलवत् मिथ्या प्रतीत होने लगीं। अब हमारा उनका सम्बन्ध ही क्या रहा ? हम उनके अब कौन हैं ?। इस समय सिर्फ एक चिन्ता हमें थी कि यह बात नीलकमल बाबू से किस प्रकार शिष्टाचार पूर्वक कही जाय। अन्त में झिजकते झिजकते हमने यह बात उनसे कह दी। उस समय बोर्ड पर की भूमिति की आकृति आश्चर्य से और मेघनाद वध के अनुष्टुपछन्द की कविता निःशब्द होकर हमारी ओर देख रही थी। जाते समय पंडितजीने नीचे लिखे उद्गार निकाले:—

'मेरा कर्तव्य योग्य रीति से पूरा करने के लिये कभी कभी मैंने तुह्मारे साथ कठोर व्यवहार किया होगा। परन्तु उस पर तुम अधिक ध्यान मत देना। मैंने तुम्हें जो कुछ सिखाया है उसका मूल्य तुम्हें बडे होनेपर मालूम होगा।

वास्तव में उनकी शिक्षा की कीमत मुझे आगे जाकर मालूम हुई। हमारे मन के विकास का कारण हमें मातृ-भाषा में मिलीहुई शिक्षा ही है। सीखने की पद्धति, हो सके वहां तक खाने की पद्धति के समान होना चाहिये। कौर को मुह में रखने पर ज्योंही चवाना प्रारम्भ होता है त्यों ही मुह में लार उत्पन्न होती है। और अन्न का दवाव पडने के पहिले ही पेट भी अपना काम शुरू कर देता है। जिसके कारण पचनक्रिया के लिये आवश्यक रस उत्पन्न होकर आहार का

कार्य व्यवस्थित रीति से होने लगता है। बंगाली लडके को मातृ भाषाकी अपेक्षा अंग्रेजीमें शिक्षा देनेसे उदि्दष्ट कार्य सिद्धि नहीं हो पाती। इससे पहले ही कोर में चर्वन के साथ साथ दांतों की दोनों पंक्तियों के ढीले पड जाने का डर मालूम होने लगता है। मानो मुंह में धरणी कंप ही हो रहा हो। और मुंह में डाला हुआ पदार्थ पाषाण की जाति का न होकर पचने योग्य है, इसका ज्ञान उसे (बंगाली बालक को) होने के पहले ही उसकी आयुष्य का आधा समय निकल जाता है। वर्ण रचना और व्याकरण पर सिर फुडौअल करना पडनेसे उसका पेट भूखा ही रहता है। और अन्त में जब उस कौर को चबाते समय उसके मुंह में लार पैदा होने लगती है तब भूख मर जाती है। पहले से ही जो संपूर्ण मनका उपयोग नहीं किया जाय तो उसकी शक्ति आखिर तक अविकसित ही रहती है। अंग्रेजी में शिक्षा देने के संबन्ध में आन्दोलन होते हुए भी हमारे तीसरे भ्राता ने जो हमें मातृ भाषा में शिक्षा देने का साहस किया उसके लिए मैं उस स्वर्गवासी आत्मा के प्रति कृतज्ञता पूर्ण साष्टांग प्रणिपात करता हूं।

प्रकरण बारहवां

प्रोफेसर।

अध्यापक शाला में हमारा शिक्षण समाप्त होने के पश्चात् हम 'बंगाली एकेडमी' नामक एक अधगोरी (यूरेशियन)

शाला में भर्ती किये गये। अब हम बडे हो गये थे और हमें कुछ महत्व भी प्राप्त होगया था। अब हमें मालूम होनेलगा कि हम स्वतन्त्रताके मंदिरकी पहली मंजिल पर पहुँच गये हैं। वस्तुस्थिति ध्यान में लेकर यदि कुछ कहना पडे तो हम यही कहेंगे कि इस संस्था में भर्ती होने के बाद यदि किसी विषय में हमारी प्रगति हुई तो वह स्वतन्त्रता में ही हुई, दूसरे किसी में नहीं। क्योंकि हमें जो पढाया जाता था उसे हम बिलकुल नहीं समझते थे, और न, समझने का कभी प्रयत्न ही करते थे। हमारे कुछ न सीखनेपर किसीको अपना हानि लाभ भी नहीं मालूम होता था। यहाँ के लडके यद्यपि खुटचाली करते थे पर यह सन्तोष की बात है कि वे तिरस्करणीय नहीं थे। वे अपनी हथेली पर Ass 'गधा' शब्द लिखते और हमारी पीठपर उसका छापा मार कर हँस देते अथवा पीछे से हमे धक्का देकर ऐसे शान्त बन जाते थे मानो उन्हें कुछ मालूम ही नहीं है। धीरे से पीछे आकर शिर पर चपत जमाकर भाग जाते थे, इस प्रकार एक नहीं बीसों तरहकी खुटचालें वे किया करते थे। इस स्कूल में भर्ती होनेके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि हम आगी में से निकलकर भूँवल में आ पडे। यद्यपि इससे हमें त्रास हुआ पर कोई ईजा नहीं हुई।

इस पाठशाला में एक बात मेरे सुभीते की थी। वह यह कि हमारे समान वडों के लडके कुछ सीखेंगे, इसकी

वहाँ कोई आशा नहीं करता था। यह शाला एक छोटी सी संस्था थी जिसकी आमदनी, खर्च इतनी भी नहीं थी। हमारी फीस ठीक समय पर दी जाती थी। इसलिये वहां के अधिकारी हमारे प्रति आभार दृष्टि से देखा करते थे। यह भी एक बडा फायदा था। बडे आदमी के लडके और समय पर फीस देने वाले होने से यदि लेटिन व्याकरण हमें नहीं आताथा तो भी हमें कोई दंड नहीं देता था। हम कितनी ही गलतियां करें पर हमारी पीठ को उसके लिये कभी इनाम नहीं दिया जाता था। इसका कारण यह नहीं था कि लेटिन सीखना हमें कठिन मालूम होता था, इसलिये हम पर कोई दया करता था, किन्तु हमारे साथ व्यवहार करने के सम्बन्ध में शालाधिकारियों ने शिक्षकों को विशेष सूचनाएं दे रखी थीं।

कितनी भी निरुपद्रवी हुई तो भी आखिर तो वह शाला ही थी। इस शाला की इमारत आनन्द देने वाली न थी। कक्षा की कोठरियां अत्यंत मलिन थीं। और आसपास की दीवालें पुलिस के पहरेदार सिपाहियों के समान मालूम होती थीं। उस स्थान को मनुष्य के रहने का स्थान न कहकर यदि कबूतर खाना कहा जाय तो अधिक वस्तुस्थिति दर्शक होगा। वहाँ न तो कोई शोभा उत्पन्न करनेवाली वस्तु थी और न चित्र, तसवीरें रंग विरंगापन आदि था जिससे बालकों के मनों का आकर्षण हो सके।

इस बात की ओर पूर्णतया दुर्लक्ष किया गया था कि मनोमोहक वस्तुओं के चुनाव से लडकों का मन लगता है। इसका सहज परिणाम यह होता था कि दरवाजे में से भीतर के चौक में जाते ही हमारा शरीर और मन उत्साह शून्य हो जाता था। और इस कारण स्कूल में गैरहाजिर रहने का हम प्रायः सदा प्रयत्न करते थे।

ऐसी परिस्थिति में हमें युक्ति भी सूझ गयी थी। मेरे बडे भाई ने फारसी सिखाने के लिये एक शिक्षक नियत किया था। उसे हम 'मुन्शी' कहा करते थे। यह मध्यम वय का दुबला पतला पुरुष था। उसमें न तो मांसका चिन्ह था और न रक्तका अंश। उसका सारा शरीर काला ठीकरा होगया था। शायद वह फारसी अच्छी जानता होगा। अंग्रेजी का ज्ञान भी उसे अच्छा था। पर इन दोनों बातों में उसका विशेष ध्यान नहीं था। अपने गायन पटुत्वका सिर्फ लाठीके खेलसे ही वह साम्य समझता था। हमारे यहाँ आँगन के बीचों बीच गर्मी में वह खडा होजाता और छायाको अपना प्रतिस्पर्धी मानकर उसे अपने मजेदार लकडी के हाथ दिखलाया करता था। मेरे यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि उसके वेचारे प्रति-पक्षी को कभी भी विजय नहीं मिलती थी। खेलते खेलते अन्त में वह बडे जोर से चिल्लाने लगता था। और विजयी मुद्रा से हँसते हँसते प्रति-पक्षी के शिर पर लाठी का प्रयोग करता था।

इससे उसकी लाठी उसीके पैरों के पास आकर टकराने लगती थी। इसी प्रकार नाक के स्वर से निकलने वाले उसके बेसुरे गाने को भी गाना कौन कहेगा ?। वह स्मशान-भूमि में से निकलनेवाली भयानक किंकालियों का एक तरह से मिश्रण ही था। हमारे गायन-शिक्षक कभी कभी मजाक में उससे कहा करते थे कि देखो मुन्शीजी ! तुम यदि इसी तरह का क्रम रखोगे तो फिर हमारी गुजर होना मुश्किल है। इस पर तिरस्कारयुक्त मुद्रा से वह कुछ हँस दिया करता था। बस यही उसका उत्तर था, अधिक नहीं।

उसके व्यवहार से हमने यह समझा कि मुंशीजी से जरा विनय पूर्वक बोलने से काम वन जाता है। बस इसी युक्ति से जब हम पाठशाला को नहीं जाना चाहते थे तब कोई एक कारण बतलाकर मुन्शीजी को इस बातके लिये राजी कर लेते थे कि वह शालाके अधिकारियों को हमारे न आने का कारण सूचित कर दे। शालाके अधिकारियों के पास वह जो पत्र भेजता था उसमें बतलाये हुए कारण ठीक हैं या नहीं, इसके जानने की वहाँ के अधिकारी पर्वाह नहीं करते थे। और पाठशाला में हमारे अभ्यास की जैसी कुछ प्रगति होती थी उसपर विचार करनेसे यह मालूम होता है कि शाला में जाने और न जाने में कोई अन्तर नहीं पडता था।

आजकल मेरी भी एक शाला है। उस शाला में भी सब प्रकार की खुटचालें करने वाले लडके हैं। लडके खुटचालें

करने वाले होते ही हैं और उनके शिक्षक भी आंखों में तेल डालकर बैठे रहते हैं। लडकों के अव्यास्थित व्यवहार से जब हमारा शिर फिर जाया करता है और हम दंड देने का निश्चय करने लगते हैं तब पाठशाला में रहकर की हुई मेरी सब खुटचालें पंक्तिबद्ध होकर मेरे आगे कल्पना रूपमें खडा होजाती हैं। और मेरे पूर्वावस्था की याद दिलाती हुई मेरी ओर देख कर हँसने लगती हैं।

अनुभव से मुझे अब विश्वास पूर्वक यह मालूम होने लगा है कि वहते हुए प्रवाह के समान छोटे बालक चालाक और कोमल होते हैं, यह बात भूलकर, हमलोग बडी अवस्था वाले आदमियोंके व्यवहारकी कसोटी से छोटे बालकों के भले बुरे व्यवहार की परीक्षा करते हैं; पर यह भ्रम है। और इस लिये बाल-चरित्रमें कुछ कमी होनेपर आकाश पाताल एक करनेकी कोई जरूरत नहीं है। प्रवाह का जोर ही सुधार करने का—दोष दूर करने का—उत्कृष्ट साधन बन जाता है। परन्तु जब प्रवाह बंद होकर पानी के छोटे छोटे डबके बन जाते हैं तब वास्तव में बहुत अडचन पडती है। इसलिये अव्यवस्थित—व्यवहारके सम्बंध में सावधानी की आवश्यक्ता विद्यार्थियों की अपेक्षा शिक्षक को ही अधिक है।

सब लोग अपनी अपनी जाति के नियम पालन कर सकें, इस दृष्टि से बंगाली विद्यार्थियोंके उपहारके लिये हमारी

पाठशालामें स्वतंत्र—स्थान नियत था। अपने दूसरे बंगाली बन्धुओं से मैत्री करने का यही स्थान था। वे सब लडके अवस्था में मुझसे बडे थे। उनमें से एक लडके के सम्बन्धमें कुछ लिखना हानिकारक न होगा, ऐसी आशा है।

इस लडके में यह विशेषता थी कि यह जादू का खेल करने में बहुत ही निपुण था। इस विषय पर इसने एक पुस्तक भी लिखीथी और वह छप भी गयी थी। पुस्तक के मुख पृष्ठ पर उसके नाम के पहले 'प्रोफेसर' शब्द भी झलक रहा था। इसके पहले किसी भी लडके का नाम छपा हुआ मैंने नहीं देखा था। इसलिये 'जादूके प्रोफेसर' के नाते से उसके प्रति मुझे एक विशेष प्रकार का आदरभाव उत्पन्न हो गया। उस समय मैं समझता था कि ऐसी कोई बात नहीं छप सकती जो संशय युक्त हो। कभी न पुछने और उडने वाली स्याही से अपने नाम के शब्दों को छापकर सदा के लिये स्थायी बना देना कोई छोटी मोटी बात नहीं है। और न अपने छपे शब्दों द्वारा जग के आगे खडे होनेमें कम पुरुषत्व ही है। इस प्रकार का आत्म-विश्वास आंखों के आगे खडे होने पर कोन उस पर विश्वास न करेगा। एक बार मैंने एक छापखाने में से अपने नाम के अक्षर छापने के खीले मंगवाये और जब उन पर स्याही लगाकर मैंने अपना नाम छापा तो उसे देख कर मैं समझा वाह यह कितनी संस्मरणीय बात हुई।

हमारे इस गुरु-बंधु और ग्रन्थकार मित्रको कभी कभी हम अपनी गाडीमें स्थान दिया करते थे। इस कारण हम

दोनों का प्रेम बढने लगा। और बराबर मुलाकात होने लगी। वह नाटक में भी अच्छा स्वांग लेता था। उसकी सहायता से हमने अपने तालीम खाने में एक स्टेज-रंगभूमि-बनायी थी। इसकी चौखट बांस की थी जिस पर कागज चिपका दिये थे। पर ऊपर से नाटक करने की मनाही का हुक्म आने से हम इस रंगभूमि में खेल न कर सके अतः हमें बडी निराशा हुई।

इसके बाद बिना ही स्टेज के हमने 'भ्रांति कृत चमत्कार' नामक नाटक खेला। पाठकों को इस नाटक के रचयिता का परिचय इस जीवन-स्मृति में पहले ही दिया जा चुका है। अर्थात वह हमारा भानेज 'सत्य' था। इसकी आज कल की शांत और गंभीर प्रकृति को यदि कोई देखेगा तो उसे यह सुनकर अवश्य ही आश्चर्य होगा कि बाल्यावस्था में यही प्राणी अनेक क्लृप्तियों-खुटचालों-का जनक रहा है। मैं यह जो कुछ लिख रहा हूं यह घटना मेरी १२, १३, वर्ष अवस्था के बाद की है। हमारे जादूगर मित्र ने कितनी ही वस्तुओं के चमत्कार--पूर्ण गुण धर्म बतलाये थे। उन चमत्कारों को देखने की मुझे बडी जिज्ञासा थी। परंतु उसने जो चीजें बतलाई थीं उन चीजों का प्राप्त करना बडा ही कठिन था। एक बार ऐसी दिल्लगी हुई कि प्रोफेसर साहब प्रयोग में इतने तल्लीन हो गये कि प्राप्य वस्तु का नाम ही उन्हें याद नहीं रहा। उस वस्तु के रस में इकबीस बार बीज को

भिंगो देने पर तुरन्त ही उसमें अंकुर फूटते हैं, फिर फूल आते हैं और उसके बाद फल लगने लगते हैं। और यह सब क्रिया एक घडी के भीतर भीतर हो जाती है। भला इस बात पर कौन विश्वास करेगा ?। यद्यपि जिसका नाम पुस्तक पर छपा हुआ है, हमारे उस प्रोफेसर की बात पर मैंने अविश्वास तो नहीं किया पर इस बात की आजमाइश करने का निश्चय अवश्य किया।

हमने अपने माली के द्वारा उस वनस्पति का बहुतसा रस मंगवाया और एक रविवार के दिन आम की गोई पर प्रयोग करने के लिये मैं ऊपर के एक कोने में जादूगर बन कर बैठा। गोयी को रस में डुबाने और सुखाने के काम में मैं बिलकुल गढसा गया था। मेरी इस क्रिया का क्या परिणाम हुआ, यह जानने के लिये वयस्क पाठकों को ठहरने की जरूरत भी नहीं है। इधर दूसरे कोने में सत्य ने स्वतः जादू का वृक्ष तैयार किया था, उसमें एक घडी के अन्दर अंकुर फूट निकला था। यह बात मुझे मालूम नहीं हुई। आगे जाकर इस अंकुर में चमत्कारिक फल लगने वाले थे।

इस प्रयोग के बाद प्रोफेसर साहब हमसे अलग अलग रहने लगे। यह बात धीरेधीरे हमारे भी ध्यानमें आगई। गाडी में वह हमारे पास बैठने से झिजकने लगा। वह हमें देखकर गर्दन नीची कर लिया करता था।

एक दिन पाठशाला में उसने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि अपन सब बारी बारी से बेंच पर से कूदें। उसमें इसने प्रत्येक का कौशल्य अजमाने का अपना उद्देश बतलाया था। जादू के प्रोफेसर में इस प्रकार का शास्त्रीय जिज्ञासा होना आश्चर्यजनक नहीं था। खैर! हम सब कूदे। मेरे कूदने पर उसने हूं! कहकर गर्दन हिलायी। हमने उसके मन का अभिप्राय जानने को उसे बहुत कुछ हिलाया, डुलाया पर उसके मुहसे इससे ज्यादह कुछ न निकला।

फिर एक दिन उसने हमसे कहा कि हमारे कुछ भले मित्रों की आप से परिचय करने की इच्छा है इसलिये आप मेरे घर चलें। हमारे घर से भी हमें आज्ञा मिल गयी और हम उसके साथ गये। वहां बहुतसे लोग एकत्रित थे और कौतूहलोत्सुक दिखलायी पडते थे। उन लोगों ने मुझ से कहा कि हमें तुझारा गाना सुनने की बडी इच्छा है। उनकी इच्छा के अनुसार मैंने एक दो पद गाये। मैं एक छोटा बालक था। अतः मैं बैल के समान थोडे ही डकार सकता था। मेरे स्वर को सुनकर सब लोग वाहवाह करने लगे और कहने लगे कि बहुत मधुर आवाज है।

फिर हमारे आगे नास्ते का सामान रखा गया। हमारे खाने के समय सब लोग हमारे आस पास बैठ गये और हमें बडे ध्यान से देखने लगे। मैं स्वभावतः लजालू था।

इसके सिवा दूसरे लोगों के सहवास का मुझे अभ्यास भी नहीं था। और भी एक बात यह थी कि हमारे नोकर 'ईश्वर' के कारण मुझे थोडा खाने की आदत पड गयी थी। अतः वहाँ मैंने बहुत थोडा खाया। मेरे इस व्यवहार पर उन लोगों का यह पक्का मत हो गया कि मैं खाने के काम में बडा नाजुक हूँ।

इस नाटक के अंतिम अंक में मुझे उस प्रोफेसर ने कुछ प्रेम-पूर्ण पत्र भेजे। उनपर से सब बात खुल गयी और हमारे उनके परिचय का अंतिम पर्दा गिर गया।

आगे जाकर सत्य से मुझे मालूम हुआ कि अच्छी तरह से शिक्षा देने के लिये मेरे पिता ने मुझे लडकों जैसे कपडे पहिना रखे हैं, वास्तव में मैं लडकी हूं। आम की गोयी पर जादू का प्रयोग करते समय सत्य ने यह बात मेरे मन पर अच्छी तरह जमा दी थी।

जादू के खेल में मजा का अनुभव करने वालों से ऊपर की बात का इस प्रकार खुलाशा करना उचित मालूम होता है कि लोगों का यह विश्वास है कि लडकियां बायां पैर आगे करके कूदती हैं। प्रोफेसर ने जब मुझ से कूदने को कहा था, तब मैं भी इसी प्रकार कूदा था। यही देखकर उसने 'हूं' कहा था! उस समय मेरी कितनी भारी भूल हुई कि यह बात मेरे ध्यान तक में नहीं आयी।

प्रकरण तेरहवां

मेरे पिता।

मेरा जन्म होने के बाद तुरंत ही मेरे पिता ने बारहों महिने इधर उधर प्रवास करना प्रारंभ किया। इसकारण यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी कि बाल्यावस्थामें उनका मेरा बिलकुल परिचय नहीं हो पाया। कभी कभी आकस्मिक रीति से वे घर पर आते थे। उस समय उनके साथ प्रवासी नोकर चाकर भी रहते थे। उन नोकरों के साथ मिलाप करने की मुझे बडी इच्छा रहती थी। एक बार लेनू नामक तरुण पंजाबी नोकर उनके साथ आया था। हमने जो उसका प्रेम-पूर्ण स्वागत किया था वह महाराजा रणजीतसिंह के स्वागत से कम नहीं था। वह जाति से ही परदेशी नहीं था किंतु नखशिख से भी परदेशी था। इस कारण उसपर हमारा बहुत प्रेम होगया था। सम्पूर्ण पंजाबी राष्ट्र के प्रति महाभारत के भीमार्जुनके समान ही हमारा आदर भाव था। क्योंकि वे लडवैये लोग हैं। यदि समरांगण में लडते लडते उनका कभी पराभव हुआ तो उसमें उनके शत्रु का ही दोष समझना चाहिये। ऐसे शूर पंजाबी का हमारे घर में होना हम अपना भूषण समझते थे। मेरी भोजाई के पास लडाऊ जहाज की नकल का खिलौना था। वह कांचकी अलमारीमें रखा रहता था। चाबी देते ही नीले रंग की

रेशमी लहरों पर वह टिक्टिक् आवाज के साथ चलने लगता था।

कौतुक पूर्ण लेनू को उस खिलौने का चमत्कार दिखाने के लिये थोडे समय के वास्ते वह खिलौना देने को मैं अपनी भोजाईसे बडी अनुनय विनय किया करता था। सदा घर में रहने के कारण किसी भी नूतन वाह्य वस्तु का संबंध होते ही मेरे मन पर उसका विलक्षण प्रभाव पडा करता था। लेनू के प्रभाव का भी यही एक कारण था। रंग विरंगा ढीला ढाला चोगा पहिने हुए इत्र और तैल बेंचने के लिये आने वाले गेब्रियल नामक यहूदी इत्र वाले की ओर भी मेरा मन इसी प्रकार आकर्षित होता था। इसका भी कारण यही था। थैले के सामान ढीलेढाले पाजामे पहिनकर और कंधों पर बडी बडी पोटलियां लटकाकर आने वाले काबुली लोगोंको देखकर भी मेरा मन विलक्षण रीतिसे मोहित हो जाता था।

मेरे पिता जब घर आते थे तब उनकी सवारी के लवाजमे के आस पास चक्कर लगाने से और उनके नौकरों के साथ परिचय करने से हमें समाधान होजाता था। प्रत्यक्ष पिताजी के पास जाने का हमें साहस नहीं होता था।

एक बार हमारे पिताजी हिमालय गये हुए थे। उन दिनों हिन्दुस्थान पर रसिया की चढाई करने की अफवाह उडी थी। यह अफवाह लोगों के प्रक्षुब्ध चर्चा का एक विषय

बन गया था। मेरी माताकी एक मैत्रिणी ने उसके पास आकर सद्हेतु पूर्वक नमक मिर्च मिलाते हुए भावी संकटका काल्पनिक वर्णन किया कि तिब्बत की किस पहाडी में से रशिया का सैन्य-समूह धूम्रकेतु के समान कब आ पहुंचेगा यह कौन कह सकता है ?। मेरी माता इस अफवाह से एकदम घबरा गयी थी। संभव है कि कुटुम्ब के दूसरे लोग उसके भय के भागीदार बने न होंगे, इसीलिये जब उसने देखा कि बडे लोगोंकी सहानुभूति उसके प्रति नहीं है तब उसने मेरा-लडके का-आश्रय लिया।

उसने बडे अनुनय पूर्णभावों से मुझसे कहा कि रशिया की चढाई के संबन्ध में तूं अपने पिताजी को पत्र लिख। आज तक मैंने पिताजी को कभी पत्र नहीं लिखा था। माता के कहने से लिखा हुआ मेरा यही पहला पत्र था। पत्र का प्रारम्भ किस प्रकार किया जाय और उसका अन्त किस प्रकार हो यह मुझे बिलकुल मालूम नहीं था। अतः मैं अपनी जमीदारी के मुंशी महानंद के पास गया। और उसकी सहायता से मैंने सिरनामा लिखा। यद्यपि लिखा हुआ सिरनामा बिलकुल ठीक था; पर उसमें दरबारी झोंक आगयी थी। समाचारों में मनोविकार मेरे थे पर उसपर दरबारी भाषा का आवरण था।

मेरे पत्र का मुझे उत्तर मिला कि तुम कुछ चिन्ता मत करो। यदि रशियन लोग चढाई करके आते ही होंगे तो मैं

स्वतः उन्हें भगा दूंगा। इस अभय बचन से भी मेरी माता का भय दूर नहीं हुआ। पर मेरे मन में पिता के सम्बन्ध में जो भय था वह दूर हो गया। इसके बाद पिताजी को रोज पत्र देने की मेरी इच्छा होती थी। और इसके लिये मैं महा-नन्द को सताया करता था। मेरा आग्रह बहुत अधिक होता था। अतः उसका तोडना कठिन होने के कारण वह मुझे पत्र लिख दिया करता था। वह मसौदा तैयार कर देता था मैं उसकी नकल करता था। परन्तु मुझे यह नहीं मालूम था कि पत्र पर पोष्ट की टिकटें भी लगाना पडती हैं। मेरी यह कल्पना थी कि महानन्द को पत्र देदेने पर वे अपने स्थान जा पहुंचते हैं। उनके लिये फिर विशेष त्रास करने की जरूरत नहीं होती। महानन्द मेरी अपेक्षा अवस्था में बडा था। और वह सब बात समझता था। अतः मेरे पत्र अपने स्थान पर पहुंच जाया करते थे।

बहुत दिनों के बाद मेरे पिता घर पर थोडे दिनों तक रहने के लिये आया करते थे। वे थोडे ही दिन के लिये क्यों न आवें पर उनका दबदबा घरभर पर रहा करता था। हमारे घर के दूसरे बडे आदमियों को भी कपडे पहिन कर, चबाये हुए पान को थूककर धीरे धीरे सौम्य मुद्रा से पिता के कमरे में जाते हुए हम देखते थे। सब लोग उस समय बहुत तत्पर दिखने लगते थे। और रसोई घर में किसी प्रकार की अव्यवस्था न होने देने के लिये स्वतः मेरी मा उस

पर देख रेख करने लगती थी। किनू नामक एक वृद्ध चोबदार सफेद अंगरखा पहिने और सिर पर तुर्रेदार पगडी लगाये हुए पिताजी के कमरे के पास खडा रहता था। और दुपहर के समय जब कि पिताजी सोजाया करते थे वह हमें बरामदे में शोर न करने के लिये चेतावनी दिया करता था। जब हमें पिताजी के कमरे के आगे से निकालना होता था तो पैरों की आवाज न करते हुए धीरे २ बिना कुछ बोले हम लोग निकलते थे। उनके कमरे में झुक कर देखने की भी हमें हिम्मत नहीं होती थी।

एक बार हम तीनों भाइयों का व्रतबंध करने के लिये पिताजी घर पर आये। व्रतबंध की क्रिया के लिये उन्होंने पंडित वेदान्त वागीश की सहायता से वेदकी प्राचीन विधि संकलित की थी। उपनिषदों में से कुछ 'सूक्तियां' स्वतः ढूंढकर उन्होंने उनका एक संग्रह किया था और उस संग्रह का नाम ब्रह्म--धर्म रखा था। प्रार्थना मंदिर में विचार बाबू की अधीनता में यह संग्रह स्वर-पाठ सहित हमें सिखाने का काम कितने ही दिनों तक चला था। अँत में हमारी क्षौर करवाकर और हमारे कान में सोने की बाली डालकर तथा ब्राह्मण की दीक्षा देकर हम तीनों को तीसरे मंजिल पर एक एकान्त स्थान में तीन दिनों तक रखा था। वह एक बडी मजा थी। बाली पकड कर हम तीनों एक दूसरे के कान खींचा करते थे। दूसरी दिल्लगी यह करते थे कि बरामदे में खडे होने पर

नीचे की मंजिल में जब हम किसी नौकर को इधर से उधर जाते आते देखते तो ऊपर से पडघम पर हम एक थाप मार देते थे।* नीचेवाला आवाज सुनकर ऊपर देखने लगता था। और हमें देखते ही सिर झुका लेता था। साधारणतया यह नहीं कहा जा सकता कि एकान्त काल के दिन हमने विरक्ति पूर्वक ध्यानस्थ रहकर व्यतीत किये। प्राचीन काल के आश्रमों में भी हमारे समान कम लडके न होंगे। दस दस बारह बारह वर्ष की अवस्था वाले अपनी सर्व बालावस्था बलि-समर्पण और मंत्र पाठ करने में ही व्यतीत कर देते थे, यह बात किसी प्राचीन काल के लेख में लिखी हुई मिलने पर भी उस पर अंध-श्रद्धा रखना कोई आवश्यक नहीं है। क्योंकि अन्य पुस्तकों की अपेक्षा बाल-स्वभाव की पुस्तक अधिक प्राचीन और विश्वसनीय है।

ब्राह्मणत्व की पूर्ण दीक्षा मिलने पर मैं तत्परता और एकाग्रता से गायत्री का जप करने लगा। गायत्री की भाषा ही ऐसी है कि उस अवस्था में उसका अर्थ मालूम होना बिलकुल अशक्य था। भुर भुवर और स्वर्ग से आरंभ हुए

---

* बंगालियों में व्रतबंध के समय कान छेदने की भी क्रिया होती है। और कानों में सोने की बालियां डालते हैं। तीन दिनों तक एकान्त में वेद पाठ करते हुए उस बालक को व्रतस्थ रहना पडता है। व्रतबन्ध की विधि पूर्ण होने के पहले ब्राह्मणेतर यदि व्रतस्थ को देखते हैं तो उन्हें पाप लगता है, ऐसा उन लोगों का विश्वास है।

उस मंत्र की सहायता से मैंने अपनी ज्ञान शक्ति के मर्यादित क्षेत्र को विस्तृत करने का जो प्रयत्न किया था उसकी मुझे अच्छी तरह याद है। गायत्री के शब्दों का अर्थ करना मुझे कितना ही कठिन क्यों न गया हो; पर इतनी बात बिलकुल निश्चित है कि शब्द का स्पष्ट अर्थ जान लेने का काम, मनुष्य की आकलन शक्ति का मुख्य काम नहीं है। शब्द का अर्थ स्पष्ट कहना, यह शिक्षा का मुख्य ध्येय न होकर मन के द्वार को खटखटाना ही उसका मुख्य ध्येय है। इस खटखटाने से किस बात की जागृति हुई, यदि यह किसी बालक से पूछा जाय तो इसका वह उत्तर कुछ का कुछ देगा। वह अपने मन का वर्णन यथोचित शब्दों से नहीं कर सकेगा। इस का कारण यह है कि मनुष्य शब्दों से जो बात प्रगट कर सकता है उसकी अपेक्षा कितना ही अधिक उलट फेर अन्तरंग में होता रहता है। मन में बहुत सी बातें 'उत्पद्यन्ते विलीयंते, होती हैं। मन बहुत सी बातों को समझता भी है परन्तु उन सब को इच्छा होते हुए भी शब्दों से प्रगट नहीं कर सकता। मनुष्य की शिक्षा का माप विश्वविद्यालयों की परीक्षा को मानने और उस पर पूर्ण विश्वास रखने वाले लोग ऊपर की बात को बिलकुल ध्यानमें नहीं रखते। ऐसी बहुत सी बातें, जिन्हें मैं बिलकुल नहीं समझता था पर जो अन्तरंग में खलबली पैदा कर देती थीं, मुझे याद हैं। एक बार गंगा किनारे के उद्यान-गृह की गच्ची पर मैं खडा हुआ था,

आकाश में बादलों का समूह एक दम जमते देखकर मेरे बडे भाई ने कालीदास के मेघदूत के कुछ श्लोक पढे। उस समय संस्कृत का एक भी शब्द मैं नहीं समझता था और न समझने की कोई जरूरत ही थी। परन्तु स्पष्ट और तेज आवाज में उन श्लोकों को स्वर के साथ बोलने में उन्होंने जो अत्यानन्द दर्शक वक्तृत्व का प्रदर्शन किया था वही मेरे लिये काफी था। इसके बाद एक दिन इसी प्रकार मेरे अंग्रेजी समझने के पहले The old cui sity shoo नामक पुस्तक की एक सचित्र प्रति मेरे हाथ में आई। कम से कम नवदशांश शब्द मुझे नहीं आते थे तो भी मैंने वह पुस्तक अथ से इति पर्यंत पढ डाली थी। समझे हुए शब्दों की सहायता से कुछ अस्पष्ट कल्पनाओं को स्पष्ट किया और उनकी सहायता से पुस्तक के विषय को गूंथने के लिये चित्र विचित्र रंग का एक धागा मैंने तैयार किया। विश्वविद्यालय के किसी भी परीक्षक ने मुझे, मेरे इस पुस्तक के वांचने के सम्बन्ध में नम्बरों की जगह अंडाकार शून्य ही दिया होता, पर वास्तव में देखा जाय तो मेरा पुस्तक का वांचन निरुपयोगी नहीं हुआ।

एक समय मैं अपने निजी डोंगे पर पिताजी के साथ गंगानदी में शेर करने के लिये गया हुआ था। उन्होंने अपने साथ जो पुस्तकें ली थीं उनमें गीत गोविन्द की एक फोर्ट विलियम प्रति भी थी। वह पुस्तक बंगला लिपी में छपी हुई

थी। उस समय मुझे संस्कृत नहीं आती थी। परंतु बंगाली का बहुत कुछ ज्ञान होगया था। इसलिये उसमें बहुत से मेरे परिचित शब्द थे। यद्यपि मैं यह नहीं कह सकता कि मैंने गीत गोविन्द के कितने पारायण किये थे; पर एक पंक्ति मुझे अच्छी तरह स्मरण है:—

निभृत निकुंज गृहं गतया निशि रहसि विलीय वसंतम्।

इस पंक्ति से अस्पष्ट सौंदर्य का वातावरण मेरे मनके चारों ओर फैल गया था। वन में की निर्जन कुटी, इस अर्थ का एक ही संस्कृत शब्द 'निभृत निकुंज गृहम्' मेरे लिये काफी था। यह पुस्तक गद्य के समान छपी हुई होने के कारण वृत्तों के भिन्न भिन्न चरण एक दूसरे से मिल गये थे। और उन्हें मुझे ही ढूंढना पडा था। इस खोज से मुझे बहुत आनंद हुआ। यद्यपि जयदेव के सम्पूर्ण अर्थ को समझना तो दूर रहा उसके थोडे से भी अर्थ को भी मैं समझ सका, यह निश्चय पूर्वक कहना सत्य के विरुद्ध होगा; तो भी शब्दों की ध्वनि और छन्दों की मधुरता ने अपूर्व सौंदर्य-युक्त चित्र निर्माण करके मेरे मन को इतना मोहित कर लिया था कि मेरे निज के उपयोग के लिये शुरू से आखिर तक उस पुस्तक की नकल किये बिना मुझे चैन नहीं पडा।

मेरी कुछ अधिक वय होजाने पर कालिदास के कुमार सम्भव का एक श्लोक मेरे बांचने में आया। उस समय भी

मेरी यही दशा हो गयी थी। उस श्लोक ने मेरे मन को बहुत चालन दिया था। इस श्लोक की पहिली दो पंक्ति का अर्थ मेरी समझ में आगया था वह यह था कि:—"पवित्र मंदाकिनी के प्रवाह के तुषार को उडा लेजानेवाला और देवदार के पत्रों को हिलाने वाला वायु।" समग्र श्लोक में कहे हुए सौंदर्य के आस्वादन की मुझे उत्कण्ठा हुई। कुछ समय वाद एक पंडित ने मुझे आगे की पंक्तियों का यह भावार्थ बतलाया कि 'व्याध के शिर पर लगे परों को उडाने वाला वायु,। इस अर्थ से मुझे बडी निराशा हुई। इससे तो अर्थ जानने के लिये जब मैं अपनी कल्पना शक्ति पर ही अवलंबित था तभी मुझे आनन्द होता था।

बाल्यावस्था की बातों को स्मरण करने का जो प्रयत्न करेगा उसका यही मत होगा कि बाल्यावस्था में जो अपूर्व लाभ हुए हैं उनके और आकलन शक्ति के विकास के प्रमाण परस्पर में कभी नहीं मिलते। हमारे भाट लोग यह तत्व अच्छी तरह जानते हैं। इसलिये उनके वर्णन में संस्कृत शब्द और गहन विषयों का प्रतिपादन ओत—पोत भरा रहता है। साधे और भावुक श्रोताओं को वे बातें समझ में नहीं आतीं। फिर उनका उपयोग क्या?। बडे २ लम्बे संस्कृत शब्द और गहन प्रतिपादन, इनका यदि श्रोतागण आकलन न कर सकें तो भी उनसे उनके संलग्न विचार

सूचित होते हैं और विचारों को चालन मिलता है, यह क्या कम लाभ है।

जो लोग शिक्षा की नाप-जोख आधि-भौतिक हानि लाभ की तराजू में डालकर करते हैं, वे भी इस सूचक शक्ति की अवहेलना नहीं कर सकते। यद्यपि सीखे हुऐ पाठ में से कितने अंश का बालक आकलन कर सके हैं, इस का गणित के द्वारा निश्चय करने का ये लोग आग्रह करते हैं, परन्तु इससे ज्ञान के उस नंदनवन-ज्ञान की अंतर शक्ति-का ऱ्हास हो जाता है जिसमें बालक और अधिक शिक्षा नहीं पाये हुऐ लोग रहते हैं। परिणाम यह होता है कि ज्ञान की अंतर--शक्ति नष्ट हो जाती है और आकलन शक्ति के बिना किसी भी बात का ज्ञान न होने का दुर्दिन प्राप्त हो जाता है।

आकलन शक्ति के भयानक मार्ग के अवलंबन के बिना वस्तुज्ञान करा देने वाला मार्ग राजमार्ग है। यह मार्ग बंद कर देने पर जगत का व्यवहार सदा के अनुसार चलते रहने पर भी स्वैरगति सागर और पर्वत की उत्तुंग शिखरें भी अपने वश में न रहेंगी।

मेरे ऊपर कहे अनुसार उस अवस्था में यदि मैं गायत्री के सम्पूर्ण अर्थ का आकलन नहीं कर सका तो भी उससे कोई हानि न होकर कुछ न कुछ लाभ ही हुआ।

मनुष्य मात्र में ऐसी एक शक्ति रही हुई है कि किसी विषय का पूर्ण तया आकलन न होने पर भी उसका काम नहीं रुकता, प्रत्युत अच्छी तरह चलता ही रहता है। एक दिन का मुझे स्मरण है कि उस दिन हमारे पढने के कमरे के एक कोने में चूने गच्ची की जमीन पर बैठकर गायत्री के शब्दों का मैं विचार कर रहा था। उस समय मेरे नेत्र आंसुओं से भर गये। वे आंसु क्यों आये थे ? इसका कारण मेरी समझ में नहीं आया। और यदि किसी ने आग्रह पूर्वक अश्रु आने का कारण पूछा ही होता तो मैंने गायत्री से उसका कोई सम्बन्ध भी नहीं बतलाया होता। मुझे आंसू आने के कारण का ज्ञान न होने में वास्तविक तत्व यह है कि अंतरंग में ज्ञान शक्ति के जो व्यापार चलते रहते हैं उनका ज्ञान बाह्य जगत् में रहने वाले 'मैं' को नहीं हो पाता।

प्रकरण चौदहवां

पिताजी के साथ प्रवास।

मेरे शिर मुंडन के कारण, मौंजी बंधन समारंभ के बाद मुझे एक बडी चिन्ता उत्पन्न हुई। गाय के दूध से तैयार होने वाले 'सन्देश, रसगुल्ला आदि पदार्थों के संबन्ध में यूरेशियन लडकों का कितना ही अच्छा मत हुआ तो भी ब्राह्मणों के संबन्ध में उनमें आदर बुद्धि का पूर्ण अभाव रहता

है। हमारी छेडखानी करने के उनके पास जो अनेक शस्त्रास्त्र होते हैं उन पर विचार न भी किया जाय तो भी हमारा मुंडन किया हुआ शिर ही छेडखानी के लिये काफी था। इसलिये मुझे चिन्ता थी कि शाला में जाते ही अपनी छेडखानी बिना हुए न रहेगी। ऐसी चिन्ता के दिनों में एक दिन मेरे पिता ने मुझे ऊपर बुलाकर पूछा कि क्या तुझे मेरे साथ हिमालय चलना रुचिकर मालूम होता है ?। मैं विचारने लगा 'बंगाल एकेडेमी' से दूर जाना और सो भी हिमालय पर' इस बात से मुझे जितना आनन्द हुआ है वह बतलाने के लिये यदि मुझमें आकाश को आनन्द-स्वर से गजगजा देने की आज शक्ति होती तो कितना अच्छा होता।

हमारे जाने के दिन मेरे पिता ने सदा की रिवाज के अनुसार परमेश्वर की प्रार्थना करने के लिये घर के सब लोगों को प्रार्थना मंदिर में एकत्रित किया। प्रार्थना समाप्त होजाने पर अपने गुरुजनों का चर्ण स्पर्श करके पिताजी के साथ मैं गाडी में जा बैठा। मेरे लिये संपूर्ण पोषाख बनने का मेरे अब तक के जीवन में यह पहला ही अवसर था। मेरे पिताजी ने स्वतः कपडे और रंग का चुनाव किया था। नवीन वस्त्रों में जरी के वेल बूटों वाली मखमली टोपी भी थी। उस पर मेरे केश रहित मस्तक के सान्निध्य से न मालूम क्या परिणाम हो, इस भय से मैंने वह टोपी हाथ में ही लेली थी। परन्तु गाडी में बैठते ही टोपी लगाने की

पिताजी की आज्ञा मिलने से मुझे टोपी लगानी ही पडी। पिताजी की नजर फिरते ही टोपी भी शिर से अलग होजाती थी और ज्योंही उनकी नजर इस ओर हुई कि वह भी अपने स्थान पर विराजमान होजाती थी।

अपनी व्यवस्था और आज्ञा के संबन्ध में मेरे पिता बडी छानवीन करते थे। कोई भी बात संदिग्ध अथवा अनिश्चित रहने देना उन्हें पसन्द नहीं था और न कुछ सबब बतलाकर टालमटूल करना ही उन्हें अच्छा लगता था। परस्पर के सम्बन्ध को नियमित करने के लिये उन्होंने नियम बना दिये थे। अपने देश-बंधुओं के बहु-जन-समाज से इस बात में वे बिलकुल भिन्न थे।

हम लोग, यदि एक दूसरे के साथ व्यवहार करने में बे पर्वाही कर जाते हैं तो कुछ बनता बिगडता नहीं है। परंतु उनके साथ व्यवहार करने में हमें परिश्रम करके भी बहुत कुछ व्यवस्थित रहना पडता था। काम थोडा हुआ या बहुत इसके सम्बन्ध में वे कुछ नहीं बोलते थे, पर काम जिस प्रकार का होना चाहिये यदि उस प्रकार का नहीं होता था तो वे बिगड उठते थे। वे जो काम करवाना चाहते थे उसकी छोटीसी छोटी बात भी निश्चित कर देने की उनकी आदत थी। घर में यदि कोई उत्सव होने वाला होता और वे उस समय यदि घर में नहीं रह सकते होते तो कौनसी

वस्तु कहां रखी जाय, कौनसा अतिथि कहां ठहराया जाय आदि सब बातें स्वयं निश्चित कर देते थे। कोई भी बात उनकी नजर से नहीं छूटती थी। उत्सव होजाने पर सब लोगों को बुलाते और अपने ठहराये हुए कामों का सब वर्णन सुनकर फिर अपने मन में निश्चित करते थे कि उत्सव किस प्रकार का हुआ होगा। इसी कारण प्रवास में उनके साथ रहते समय मुझे मनोविनोद करने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं थी; पर दूसरी बातों में उन्होंने जो मार्ग निश्चित कर दिया था उससे दूर जाने का मुझे बिलकुल अवसर नहीं था।

हमारा पहला मुकाम बोलपुर में होने वाला था। थोडे दिनों पहिले सत्य भी अपने माता पिता के साथ बोलपुर जाकर लोट आया था। उसने हमसे अपने प्रवास का जो वर्णन किया था उस वर्णन को उन्नीसवीं शताब्दि के किसीभी स्वाभिमानी बालकने रत्तीभर भी महत्व नहीं दिया होता। हमारी मनोरचना ही भिन्न प्रकार की थी। शक्यता और अशक्यताके अन्तरको जान लेनेकी क्रिया सीखनेका पहले हमें कभी अवसरही नहीं मिला था। यद्यपि महाभारत और रामायण की पुस्तकें हमने बांची थीं। पर उन्होंने भी हमें इस विषय में कुछ नहीं सिखाया था। लडकों को अनुकरण करने का मार्ग सिखाने वाली बालकोपयोगी सचित्र पुस्तकें भी उस काल में प्रचलित नहीं थीं। इसलिये जगत के नियमन करने वाले नग्द नियमों का ज्ञान हमें ठोकरें लगने से ही हुआ।

सत्य ने हमसे कहा था कि जो मनुष्य बहुत वाकिफगार न हो उसका रेलगाडी में चढना बहुत धोके का काम है। जरा चूके कि गये। मामला खत्म हुआ। उसने हमसे यह भी कहा था कि रेलगाडी के चलते समय अपनी जगह को जितना हो सके उतने बल से पकड रखना चाहिये, नहीं तो गाडी के धक्के से मनुष्य कहाँ जा गिरेगा, यह नहीं कहा जा सकता। उसके इस कहने परसे जब मैं स्टेशन पर पहुंचा तो थर थर कंपने लगा। हम लोगों के इतनी सहज रीति से डिब्बे पर चढ जाने पर भी मुझे यही विश्वास रहा कि कठिन प्रसंग तो अब आगे आने वाला है। अंत में जब गाडी चलने लगी और संकट का कोई भी चिन्ह दिखलाई नहीं पडा तब मुझे धीरज बंधा और बडी निराशा हुई।

गाडी वेग पूर्वक चलने लगी। दूर दूर तक फैले हुए बडे बडे खेत, उनकी मेडों पर के जामुनी और हरे रंग के वृक्ष, उन वृक्षों की गहरी छाया में स्थित गांव, चित्र के समान एक के बाद एक आते और मृग-जल के पूर के समान नष्ट हो जाते थे। हम जब बोलपुर पहुंचे तब संध्या हो गयी थी। म्याने में बैठते ही मेरे नेत्र झपकने लगे। जगने पर प्रातःकाल के प्रकाश में मेरा देखा हुआ दृश्य ज्यों का त्यों दिखे, इसलिये उस आश्चर्य जनक दृश्य को सम्हालकर रखने की मेरी इच्छा थी। मुझे यह भय मालूम होने लगा कि संध्या

काल के धुंधले प्रकाश में यदि नेत्र खुले रखकर उस दृश्य के कुछ भाग का अपन अवलोकन करेंगे तो प्रातःकाल के आनंद दायक समय में उस सौंदर्य का जो मधुर अनुभव अपने को मिलेगा उसका नावीन्य कम होजायगा।

सुबह जग कर जब में बाहिर आया तो उस समय भी अंतःकरण थर २ कंप रहा था। मेरे पहले जिन्होंने बोलपुर देखा था उन्होंने कहा था कि जगत् में कहीं न मिलने वाली एक बात बोलपुर में है। वह एक रास्ता है जोकि मुख्य भवन से लेकर नोकरों के रहने के स्थान तक गया है। इस पर चलने वाले को न तो धूप लगती है और न वर्षा के दिनों में पानी की एक बूंद उन पर गिरती है। जब मैं बोलपुर पहुंचा तो रास्ते को ढूंढने लगा। पर मेरा सारा परिश्रम व्यर्थ गया। और यह सुनकर शायद पाठकों को आश्चर्य न होगा कि आजतक भी उस रास्ते का मुझे पता न लगा।

मेरा पालन पोषण शहर में होने के कारण इस समय तक मैंने गेहूं के खेत नहीं देखे थे। ग्वालों के बच्चों के सम्बन्ध में मैंने पुस्तक में पढा था और अपनी कल्पना शक्ति के चित्र पट पर उनकी एक सुन्दर प्रतिमा भी मैंने बनायी थी। सत्य ने मुझसे कहा था कि बोलपुर में घर के आस पास पके हुए गेहूं के खेत हैं। उनमें ग्वालबालों के साथ रोज खेल खेला करते हैं। खेल में मुख्य काम ऊमियों को तोडना भूंजना और फिर मसलकर खाने का होता है। बोलपुर में जाकर

जब मैंने बडी उत्सुकता से देखा तो वहां पडती जमीन पर गेहूं के खेत का नाम भी नहीं था। वहां आस पास भले ही ग्वालों के लडकें होंगे पर दूसरे लडकों के समूह में उन्हें कैसे पहिंचाना जाय, यह एक बडा प्रश्न था।

मुझे जो बात नहीं दिखी उसे मन में से निकाल डालने को बहुत समय नहीं लगा। क्योंकि मैंने जो कुछ देखा मेरे लिये वही भरपूर था। इस स्थान पर नोकरों का शासन नहीं था। और मेरे आस पास जो रेखा खींची हुई थी वह इस एकान्त स्थान की अधिष्ठात्री स्वामिनी [प्रकृति] द्वारा खींची हुई क्षितिज पर की रेखा थी। इस रेखा के भीतर अपने इच्छानुसार इधर उधर भटकने में मैं स्वतन्त्र था।

इस समय मैं छोटा बालक ही था तो भी मुझे भटकने में पिताजी की कोई रोक टोक नहीं थीं। रेतीली जमीन में बरसाती पानी के कारण जगह जगह खड्डे हो गये थे और स्थान स्थान पर छोटी छोटी टेकडियां बन गई थीं जिन पर बहुत से भिन्न २ आकार के पत्थर पडे हुए थे। इन टेकडियों पर छोटे छोटे झिरने वहते थे जिन सबों से मानो गलिव्हर के वृत्तान्त को बडी शोभा प्राप्त होगयी थी।

मैं इस स्थान से भिन्न भिन्न आकार और रंग के छोटे छोटे पत्थर इकठ्ठे करके अपने कोट में भरकर पिताजी केपास

ले आता था। पिताजी ने इस परिश्रम की कभी अवहेलना नहीं की प्रत्युत उत्साह पूर्ण शब्दों से वे सदा यही कहते थे कि वाह क्या अच्छे हैं। अरे! तुझे ये कहां मिले ?।

मैं तुरन्त ही उत्तर देता था कि अभी तो और भी वहां मिलेंगे, हजारों लाखों मिल सकते हैं। कुछ कमी थोडे ही है। मैं रोज इतने ही ले आया करूंगा। इसके उत्तर में वे कहते थे बहुत अच्छी बात है, हमारी उस छोटीसी टेकडी को इन पत्थरों से तूं क्यों नहीं सिंगारता है ?।

हमारे बाग में एक हौज बनवाने का प्रयत्न हुआ था। परन्तु जमीन में पानी बहुत ऊंडा होने क कारण खोदने का काम बीचमें दी बंद कर दिया। खोदने से निकली हुई मट्टी का एक स्थान पर ढेर कर दिया था। इस ढेरकी एक टेकडीसी बन गई थी जिसकी शिखर पर बैठकर पिताजी प्रातःकाल उपासना किया करते थे। उनकी उपासना के समय ही, उनके सन्मुख पूर्व दिशा में क्षितिज से भिडे हुए और आन्दोलित होनेवाले भूपृष्ठ पर सूर्योदय हुआ करता था। मुझे जिस टेकडी को सिंगारने के लिए कहा गया था, यह वही टेकडी थी। जब हम बोलपुर छोडकर जाने लगे तब मेरे इकट्ठे किये हुए सब पत्थर वहीं छोडना पडे। इससे मुझे बडा दुःख हुआ। वस्तुओं को संग्रह करने रूप एक मात्र कारण से उन वस्तुओं से निकट सम्बन्ध रखने का हमें कोई

अधिकार नहीं है, इस बात का ज्ञान होना आज भी मुझे कठीन प्रतीत होता है। इतने भारी आग्रह से की हुई मेरी विनती मेरे दैव ने यदि स्वीकार की होती और उन पत्थरोंका बोझ वह सदा मेरे पास रहने देता तो आज दैव को मैं जितना निष्ठुर मानता हूं उतना निष्ठुर मानने का शायद प्रसंग ही नहीं आया होता।

एक वार एक दर्रे में मुझे एक झिरा दिखा। उसमें से छोटी नदीके समान पानी वह रहाथा। छोटी २ मछलियां भी थीं और प्रवाह के विरुद्ध चलने का वे प्रयत्न कर रही थीं।

मैंने अपने पिताजी से कहा कि मुझे एक सुन्दर झिर मिली है। क्या वहां से आप के स्नान और पीने के लिये पानी नहीं लाया जा सकता ?।

मेरे विचार उन्हें मान्य हुए और वे कहने लगे कि मैं भी तुझ से यही कहना चाहता था। फिर उस झिरेसे पानी लाने के लिये उन्होंने नोकर को आज्ञा दे दी।

पहले जिन बातों का ज्ञान नहीं हुआ था उन अज्ञात बातों पर प्रकाश डालने की इच्छा से उन छोटी छोटी टेकडियों पर और पहाडियों पर मैं निरंतर भटकता रहता था। इस भटकनेसे मैं कभी नहीं ऊवा। उस बिन शोधी

हुई भूमि में फिरते समय मुझे सब वस्तुएं दूरबीन की उलटी बाजू से देखने के समान छोटी छोटी दिखलाई पडती थीं। देखने वाला भी छोटा था और टेकडियों के नीचे के पदार्थ भी छोटा दिखलाई पडते थे। नारियल, बेर, जामुन आदि के वृक्ष, पर्वत श्रेणी, धब धबे, नदियां, नाले और उनमें की मछलियां सब छोटी २ दिखती थीं। मानों आपस में ये सब छोटी अवस्था के सम्बन्ध में चढा ऊपरी कर रही हों।

मेरे पास थोडे पैसे और थोडे रुपये देकर उनका हिसाब रखने की पिताजी ने आज्ञा दी थी। उनके इस कार्य का उद्देश यह था कि मैं यह सीख जाऊं कि पर्वाह के साथ काम किस प्रकार करना चाहिये। इसके सिवा अपनी ऊंची कीमत की घडियों में चाबी देने का काम भी उन्होंने मेरे सिपुर्द कर रखा था। मेरे में जबाबदारी की कल्पना उत्पन्न करने की इच्छा से उन्होने हानि की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। हम दोनों साथ साथ घूमने को जाते थे। उस समय रास्ते में जो भिखारी मिलता उसे कुछ देने के लिये वे मुझे आज्ञा देते थे। वे घर आकर मुझ से हिसाब पूछते थे। मेरा बतलाया हुआ हिसाब कभी बराबर नहीं मिलता था। एक दिन मैंने खर्च का हिसाब दिया। पर खर्च की रकम घटाकर सिलक में जितना बचना चाहिये उससे सिलक में अधिक पैसे थे। इस पर पिताजी ने कहा कि "तुझे ही मेरा खजांची

बनना चाहिये क्योंकि तेरे हाथ के स्पर्श से पैसे की बढती होती है।

उनकी घडियों में मैं इतनी जोर से चाबी लगाता था कि तुरंत ही उन्हें घडीसाज के पास कलकत्ते भेजना पडता था।

मुझे स्मरण है कि जब मैं बडा होगया तब एक बार जमीदारी के काम की देख रेख करने के लिये मेरी नियुक्ति हुई। उस समय पिताजी की दृष्टि क्षीण हो गयी थी अतः प्रत्येक मास की दूसरी या तीसरी तारीख को मुझे जमा खर्च का आंकडा पिताजी को सुनाना पडता था। पहले तो मैं प्रत्येक खाते की जोड की रकम सुनाता था; फिर जिस कलम पर उन्हें शंका होती उसकी तपशील पढने की वे मुझे आज्ञा देते थे। उस समय जो खर्च उन्हें पसन्द नही होगा, यह मैं जानता उसे टाल देता या झट से बांचकर दूसरी कलम पढने लगता था। पर यह बात उनके ध्यान में आये बिना नहीं रहती थी। इस कारण प्रत्येक महिने के पहले के कुछ दिन मुझे बडी चिन्ता में व्यतीत करना पडते थे। मैं ऊपर कह चुका हूं कि पिताजी को छोटी सी छोटी बात भी पूछने और उसे अपने ध्यान में रखने की आदत थी। फिर वह हिशाब का आंकडा हो, जमा खर्च की रकम हो, उत्सव की व्यवस्था हो, जायदाद बढाने की बात हो या उसमें रद्दोबदल करना हो, कुछ भी हो, बिना पूछे वे नहीं मानते थे।

बोलपुर में नवीन बनवाया हुआ उपासना मंदिर उन्होंने कभी नहीं देखा था। तोभी बोलपुर से आने वाले लोगों से पूछ पूछ कर उन्होंने वहीं का सब परिचय प्राप्त कर लिया था। उनकी स्मरण शक्ति बडी विलक्षण थी। कोई बात समझ लेने पर फिर उनकी स्मरण शक्ति से उसका निकल जाना शक्य नहीं था।

अपनी भगवद्गीता की पुस्तक से उन्होंने अपने प्रिय श्लोकों का भाषान्तर करने और उनकी नकल करने के लिये मुझ से कहा था। घर में मुझे कोई पूछता भी नहीं था। पर प्रवास में जब ऐसे महत्व के काम मेरे सिपुर्द किये जाते थे। तब मुझे वह प्रसंग अपने लिये बडी धन्यता का प्रतीत होता था।

इस समय मेरे पास वाली नीले रंग की वही पूरी होगयी थी। और जिल्द बन्धी डायरी की एक प्रति मुझे प्राप्त हुई थी।

मुझे अपनी कल्पना शक्ति के आगे कवि के रूप में खडा होना था। अतः बोलपुर में रहते समय जब मुझे कविता बनाना होता तो नारियलके वृक्ष के नीचे इधर उधर हाथ पांव फैलाकर कविता बनाना मुझे बहुत अच्छा लगता था।

मुझे यही मालूम होता था कि इस प्रकार हाथ पांव तान कर व अस्त व्यस्त रीति से पडकर कविता करना ही कवित्व का सच्चा मार्ग है। इसी प्रकार कडक गर्मी में रेतीली जमीन पर पडकर पृथीराज-पराभव नामक वीररस प्रचुर कविता मैंने बनायी। उसमें वीररस ओतपोत भरा था। तो भी उस कविता का अंत शीघ्र हो गया। अर्थात् उस डायरी ने भी अपनी बहिन उस नीली बही के मार्ग का अनुसरण किया, उसका पता भी नहीं कि वह कहां खो गयी।

हम बोलपुर से चलकर रास्ते में साहबगंज, दिनापुर, अलाहवाद और कानपुर में थोडे २ दिन ठहरते हुए अमृतसर जा पहुँचे।

रास्ते में एक घटना हुई, वह मेरे स्मृति पटल पर अभी-तक टकरी हुई है। एक बडे स्टेशन पर हमारी गाडी रुक गयी। तब एक टिकिट कलेक्टर आया और उसने हमारी टिकिटें काटीं। वह मेरी ओर अजब तरह से देखने लगा उस पर से ऐसा मालूम हुआ कि उसे कुछ सन्देह हुआ है परंतु उसे अपना संशय प्रगट करना शायद ठीक न मालूम हुआ। वह चला गया और फिर अपने एक साथी के साथ आया और हमारे डब्बे के सामने कुछ चुल-बुलाहट करके वे दोनों फिर चले गये। अन्त में स्वयं स्टेशन मास्टर आया और उसने मेरा आधा टिकिट देखकर पूछा कि क्या इस बालक की अवस्था बारह वर्ष से अधिक नहीं है?

पिताजी ने कहा ' नहीं '।

उस समय मेरी अवस्था ग्यारह वर्ष की थी परन्तु अवस्था की अपेक्षा मैं अधिक बडा दिखता था।

स्टेशन मास्तर ने कहा कि तुम्हें उसका भाडा पूरा देना चाहिये। पिताजी के नेत्र लाल होगये, पर एक भी शब्द न कहकर उन्होंने अपनी पेटी में से एक नोट निकालकर स्टेशन मास्तर को दिया। उसने नोट का खुर्दा मेरे पिताजी को लाकर दिया। पिताजी ने लेकर तुच्छता दर्शक मुद्रा से उसके आगे फेंक दिया। तब अपने संशय की क्षुद्रता इस प्रकार प्रगट होते देख लज्जा से स्टेशन मास्तर वहां का वहां स्थगित होगया।

अमृतसर का स्वर्ग मन्दिर, स्वप्न के समान मेरी आंखों के आगे आता है। सरोवर के मध्यभाग में विराजमान गुरु दरबार को मैं अपने पिता के साथ सुबह के वक्त कई बार गया था। वहां पवित्र गीता की अखण्ड ध्वनि सदा होती रहती थी। कभी कभी उपासकों के बीच में मेरे पिता भी बैठ जाते और उनके साथ साथ स्तुति स्तोत्र पढने लगते थे। एक परकीय गृहस्थ को इस प्रकार मिलते देख वहां वालों को आनन्द होता था। शक्कर तथा मिठाई के प्रसाद का बोझ लेकर हम अपने डेरे पर लौट आते थे।

एक दिन पिताजी ने उक्त उपासना गीत गाने वालों में से एक मनुष्य को अपने स्थान पर बुलाकर उससे उन पवित्र गानों में से कुछ गाने सुने। उसे जो बिदागी दी गई उससे वह खूब संतुष्ट हुआ होगा; इसमें सन्देह नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि गवैयों ने हमारा इतना पीछा किया कि हमें अपनी रक्षा के लिये कठोर उपायों को काम में लाना पडा। जब उन गवैयों को मालूम हुआ कि हमारे स्थान पर आने की सख्त मनाही है तब वे हमें रास्ते में ही गांठने लगे। सुबह हम ज्योंही फिरने को जाते त्योंही हमें कन्धे पर तम्बूरा लटकाये हुए लोग मिलते। उन्हें देखते ही बधिक की बन्दूक की नली देखकर, जिस प्रकार शिकार की अवस्था होती है उस प्रकार हमारी अवस्था होती थी। हम ज्योंही तंबूरे की आवाज सुनते त्योंही घबडाकर भागना शुरू कर देते थे। तभी हमारी उन लोगों से रक्षा हो पाती थी।

संध्या होते ही पिताजी बगीचे के ओर के बरामदे में आबैठते और मुझे गाने के लिये बुलाते थे। चन्द्र का उदय हो गया है उसकी किरणें वृक्ष--राजी के बीच में से बरामदे की फर्श पर पड रही है और ऐसे समय में मैं विहाग राग गा रहा हूं।

पिताजी उस समय गर्दन नीची डालकर और अपने हाथ में हाथ मिलाकर एकान्त चित्त से सुना करते थे। सायंकाल के उस दृश्य का आज भी मुझे अच्छी तरह स्मरण है।

मैं ऊपर एक जगह लिख आया हूं कि जब मैंने एक बार भक्ति के संबंध में कविता बनायी थी और उसका वर्णन श्रीकंठ बाबूने पिताजी से किया था तब बडे आनंद से उन्होंने उनकी हँसी उडायी थी। आगे जाकर उसकी भरपाई किस तरह हुई इसका मुझे अच्छी तरह स्मरण है। माघ मास में एक उत्सव के समय पढे जाने वाले स्तोत्र में से बहुत से स्तोत्र मेरे रचे हुए थे।

इस समय पिताजी चिन्सुरा में रुग्ण शय्या पर पडे हुए थे। उन्होंने मुझे और मेरे भाई ज्योति को बुलाया। मुझे अपने बनाये हुए स्तोत्र हार्मोनियम पर गाकर सुनाने की आज्ञा दी और ज्योति को हारमोनियम बजाने के लिये कहा उनमें से कितने ही गानें मुझे दो दो बार गाने पडे थे।

गायन समाप्त होने पर उन्होंने मुझसे कहा कि अपने देश के राजा को यदि अपनी भाषा का ज्ञान होता और उसके साहित्य की मधुरता वह समझता होता तो उसने अवश्य ही कविका सन्मान किया होता। परन्तु वस्तु स्थिति इस प्रकार न होने से यह काम मुझे ही करना पडेगा, यह कह कर उन्होंने मेरे हाथमें एक दर्शनी हुंडी दी।

मुझे सिखाने के लिये 'पीटर पार्ले' नामक पुस्तक माला की कुछ पुस्तकें पिताजी साथ लाये थे। शुरु में ही बेंजामिन

फ्रँकलिन नामक पुस्तक उन्होंने चुनी। उन्हें यह मालूम हुआ कि इस पुस्तक से शिक्षा और मनोरंजन दोनों होंगे।

परन्तु हमारे पढना शुरू करने के थोडे ही दिनों बाद उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। बेंजामिन फ्रेंकलिन अत्यन्त व्यवहार दक्ष मनुष्य था। उसके हिसाबी नीति-तत्वों की संकुचितता से मेरे पिताको उसके प्रति घृणा हो गयी थी। कुछ बातों के सम्बन्ध में उसका ऐहिक स्यानपन देखकर पिताजी इतने अधीर होजाते थे कि उसके प्रति निन्दाव्यंजक शब्द कहे सिवाय उन से रहा नहीं जाता था।

इसके पहले व्याकरण के नियमों को कण्ठस्थ कर लेने के सिवाय मैं संस्कृत बिलकुल नहीं सीखा था। प्रवास के समय पिताजी ने एकदम संस्कृत वाचन पुस्तक का दूसरा भाग पढाना शुरू किया। और पढाते २ स्वतः ही शब्दों के रूप भी बनाने के लिये उन्होंने मुझसे कहा। बंगाली भाषा का जो मुझे अधिक ज्ञान हो गया था उससे इस समय मुझे बहुत सहायता प्राप्त हुई। पिताजी ने मुझे प्रारंभ से संस्कृत में लिखने का प्रयत्न करने के लिये बहुत उत्तेजन दिया था। संस्कृत पुस्तकों में मिले हुए शब्दभांडार में कहीं कहीं अम् और अन् का मन माना उपयोग करके मैंने बडे २ सामासिक पद बना डाले थे। उन्हें देवभाषा की खिचडी ही कहना चाहिये। परन्तु मेरी इस जल्दबाजी से-उतावले पन से-पिताजी ने मेरा कभी उपहास नहीं किया।

इसके बाद 'प्रोक्टर' की सुलभ ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें हमने पढीं। इन पुस्तकों को पिताजी ने सरल भाषा के द्वारा मुझे समझा दिया था। फिर इन पुस्तकों का मैंने बंगाली भाषा में अनुवाद किया।

मेरे पिताजी, अपने स्वतः के उपयोग के लिये जो पुस्तकें लाये थे उनमे ' Givin and rome ' ' गिविन और रोम ' नामक एक दस बारह भागों की बडी पुस्तक भी थी। इस पुस्तक की ओर मेरा ध्यान खिंचा करता था। यह बडी नीरस पुस्तक थी। मोहकता तो उसमें नाम मात्र को भी न थी। मुझे उस समय यह विचार उत्पन्न होते थे कि मैं अभी छोटा हूं, असमर्थ हूं और परावलम्बी हूं अतः मुझे पुस्तकें बांचना भाग है; पर जिन्हें बिना अपनी तीव्र इच्छा के पुस्तकें बांचने की जरूरत नहीं है, वे अवस्था प्राप्त मनुष्य, पुस्तकें बांचने का कष्ट क्यों उठाते हैं ?।

प्रकरण पन्द्रहवां

हिमालय के ऊपर।

लगभग एक माह तक अमृतसर में रहकर १५ अप्रेल के करीब हम लोग डलहौसी हिल्स की ओर जाने के लिये निकले। अमृतसर में पीछे २ तो हम बिल्कुल ऊब गये थे

और ऐसा दिल होने लगा था कि यहां से कब रवाना हों। क्योंकि हिमालय पर जाने की मुझे बहुत उत्कंठा थी।

झंपान में बैठकर पहाडी पर चढते समय दोनों ओर पर्वत श्रेणियां मिलती हैं। वसंत ऋतु के सुन्दर पुष्पों से उस समय वे खूब सुशोभित थीं। प्रतिदिन सुबह दूध रोटी खाकर हम चलने को निकल पडते थे। और सूर्यास्त के पहिले रात्रि में विश्राम करने के लिये आगे के मुकाम के बंगले में आश्रय लेते थे। सारे दिन भर मेरे नेत्रों को विश्राम नहीं मिलने पाता था। क्योंकि मैं समझता था कि जरा प्रमाद हुआ कि कुछ न कुछ देखने को रह जायगा। पहाडी की ओर ज्योंही हमारा रास्ता मुडता था त्योंही हमें रमणीय शोभा देखने को मिलती थी। विशाल वनवृक्षों के समूहों की शोभा देखते ही बनती थी। तपोवन में वृद्ध ध्यानस्थ ऋषियों के चरणों में बैठकर एकाध छोटी आश्रम–कन्या के खेलने के समान वृक्षों की छाया के नीचे से पानी के छोटे २ से धबधबे काई–जमे पत्थरों परसे आवाज करते हुए गिरते थे। ऐसे स्थानों पर झंपान उठाने वाले लोग विश्राम करने के लिये ठहर जाते थे। ऐसे स्थानों को देखकर मेरा तृषित अंतःकरण भीतर हीं भीतर कहा करता था कि अरे! ऐसे रमणीय स्थानों को पीछे छोडकर आगे क्यों जा रहे हो?। यहीं हम सदा के लिये क्यों नहीं रहते।

प्रथम दर्शन से बडा लाभ यह होता है कि उस समय मन को यह ज्ञान नहीं होता कि ऐसे ऐसे अनेक दृश्य आगे आने वाले हैं। परन्तु जब मन को यह विश्वास हो जाता है कि आगे ऐसे बहुत से दृश्य देखने को मिलने वाले हैं तो वह अपना सर्व लक्ष एक स्थान पर न लगाकर दूसरे दृश्यों के लिये भी रख छोडता है। जब किसी वस्तु की दुर्मिलता का मन को विश्वास हो जाता है तभी वस्तु की कीमत अजमाने को उसकी कंजूसवृत्ति नष्ट होती है। कलकत्ते के रास्तों में जाते समय जब मैं कभी कभी अपने आपको उस स्थानपर अपरिचित कल्पना करता हूं तब मुझे मालूम होता है कि लक्षपूर्वक अवलोकन न करनेसे अपने से दूर रहने वाली कितनी ही ऐसी बातें हैं जिन्हें अपन देख सकते हैं। अपरिचित और लोकोत्तर स्थानों के देखने के लिये मन को प्रेरणा करने वाली चीज उस स्थान को देखने की तीव्र इच्छा रूपी क्षुधा के सिवाय दूसरी कोई नहीं नहीं है।

पैसे रखने की एक छोटी सी थैली पिताजी ने मेरे सुपुर्द कर दी थी। प्रवास में खर्च करने के लिये उन्होंने उसमें बहुत से पैसे रख दिये थे। उन्हें यह कल्पना करने का कोई कारण नहीं था कि उस थैली को सम्हाल रखने में मैं ही एक योग्य मनुष्य हूं। उन्होंने यदि अपने नोकर 'किशोरी' के पास उसे रखा होता तो वह ओर अधिक सुरक्षित रह सकती थी। इस पर भी उन्होंने जो उसे मेरे पास रखा, इसमें मुझे उनका

एक उद्देश यह दिखता है कि उससे मुझे कुछ शिक्षा प्राप्त हो। एक दिन ठहरने के स्थान पर पहुंचने के बाद वह थैली पिताजी को देना मैं भूल गया और वह टेबिल पर पडी रह गयी। इस अपराध पर मुझे शब्दों की मार सहन करना पडी।

प्रवास के मुकाम पर जब हम लोग झंपान से उतरते तब बंगले में से कुर्सियां बाहिर लाने के लिये पिताजी आज्ञा देते थे। कुर्सियों के आजाने पर हम उन पर बैठते थे। सन्ध्या का प्रकाश पडते ही पर्वतों के स्वच्छ वातावरण में तारागण स्पष्ट रीति से चमकने लगते थे। ऐसे समय में पिताजी मुझे नक्षत्रों का ज्ञान कराते थे अथवा ज्योतिषशास्त्र पर मुझ से बातचीत करते थे।

वेक्रोटा में जो घर ले रखा था वह उच्च शिखर पर था। मई मास को बहुत थोडे दिन रह गये थे। तो भी वहां इतनी अधिक ठन्ड थी कि शीत ऋतु का बर्फ वृक्षों से आच्छादित स्थानों पर अभी जमा हुआ ही था।

ऐसे स्थानों पर भी स्वतन्त्रता से मुझे घूमने फिरने देने में पिताजी को बिलकुल भय नहीं मालूम होता था। हमारे बंगले के नीचे की ओर पास पास लगे हुए देवदारु के वृक्षों से भरे पर्वत का सिकुडा परन्तु लम्बा भाग था। इस जंगल में लोहे की स्याम लगी हुई लकडी लेकर मैं स्वच्छन्द होकर

भागता रहता था। कहां तो वह बन वृक्षराजी, आकाश से जाकर लगे हुए राक्षस के समान दिखने वाले बडे २ वृक्षों की छाया और शताब्दियों से शिर उंचा किये खडे हुए हैं इतनी उनकी पुरातनता और कहां आजकल का एक लडका जो उन वृक्षों के तनों के आसपास निर्भय होकर स्वच्छन्द रीति से घूम रहा है। उन वृक्षों की छाया में पैर रखते ही मुझे वहां किसी अन्य व्यक्ति के अस्तित्व का भान होता था।

मुझे जो कमरा दिया गया था वह बंगले के एक शिरे पर था। बिछोने पर पडे पडे बिना परदों वाली खिडकियों में से तारागण के धुन्धले प्रकाश में दूर दूर की हिममय पर्वत शिखरें लक लक करती हुई मुझे दिखाई पडती थीं। कभी २ निद्रा से यदि मैं अध-जगा हो जाता और देखता तो पिताजी बरामदे में लाल रंग के दुशाले को चारों ओर लपेटे हुए उपासना करने के लिये बैठे दिखलाई पडते थे। उस समय कितने बजे होंगे यह मैं निश्चयतः नहीं कह सकता था। जब इसके बाद एक नींद पूरी होकर मैं जागता था तो पिताजी मुझे अपने बिस्तरे पर जगाते हुए दिखलायी पडते थे। इस समय भी कुछ रात्रि शेष रहती थी। संस्कृत के शब्दों के रूप लेने और उन्हें कंठस्थ करने के लिये यह समय नियत था। कडाके की ठन्ड में रजाई में से उठाना जी लेने के बराबर है। पिताजी की उपासना समाप्त हो जाने पर

सूर्योदय के समय हम लोग दूध पीते थे। इसके बाद मैं उनके पास खडा रहता था और वे उपनिषदों का पाठ पढते पढते ईश्वर में संलग्न हो जाते थे।

फिर हम लोग घूमने के लिये जाते थे। परन्तु मैं उनके साथ चल कैसे सकता था। मेरे से बडी उम्र के लोग भी उनके साथ चल नहीं सकते थे। अतएव कुछ समय बाद उनके साथ चलने की इच्छा मुझे छोड देनी पडती थी और किसी समीपी आडे तिरछे पहाडी मार्ग से मुझे घर लोटआना पडता था।

पिताजी के लौट आने पर मैं उनसे अंग्रेजी सीखता था। दस बज चुकने पर वर्फ के समान ठण्डा पानी स्नान के लिये मिलता था। पिताजी की आज्ञा के बिना चुल्लू भर भी गर्म पानी यदि नोकर से मांगा जाय तो नहीं मिल पाता था। मुझे साहस बंधाने के लिये पिताजी कहा करते थे कि जब हम छोटे थे तब ठण्डे पानी से ही स्नान किया करते थे।

वहां दूध पीना भी एक तरह की तपश्चर्या थी। पिताजी को दूध बहुत प्रिय था और वे बहुत पिया करते थे। मुझ में यह आनुवंशिक गुण न होने के कारण कहो अथवा पहले वर्णन की हुई परिस्थिति में मेरा लालन पालन होने के कारण कहो, मुझे दूध बिल्कुल नहीं रुचता था। परन्तु दुर्दैव से मुझे भी एकदम दूध पीना पडता था। इस कारण मुझे नोकरों की कृपा पर

अवलंबित रहना पडता था। वे मेरे दूध का प्याला आधे से अधिक फेन से भर देते थे। उनकी इस कृपा के सम्बन्ध में में उनका बहुत आभारी रहता था।

दुपहर का भोजन हो चुकने पर फिर मेरा पढना शुरू होता था। परन्तु हाड मांस के इस शरीर को यह बात सहन नहीं होती थी। सुबह की बाकी रही हुई निद्रा देवी इस समय अपना बदला चुकाने की इच्छा करती और मैं ऊंघने लगता था। यह देखकर पिताजी मुझे छोड देते थे। उनके छोडते ही निद्रा भी न मालूम कहां भाग जाती थी और हमारी सवारी फिर पर्वतों पर घूमने को निकल पडती थी।

हाथ में सोंटा लेकर पर्वत की एक शिखर पर से दूसरी शिखर पर मैं भटकता रहता था। पिताजी ने मेरे इस काम में कभी रोक टोक नहीं की। उन्होंने हमारी स्वतन्त्रता में कभी हाथ नहीं डाला। मैंने अनेकवार उन्हें न रुचनेवाली बातें कहीं और करीं हैं; यदि वे चाहते तो एक शब्द से मुझे उन बातों को कहने व करनेसे रोक सकते थे; परन्तु उन बातों की अयोग्यता, मेरी सदसद्विवेक बुद्धि द्वारा मुझे मालूम होने तक उनके सम्बन्ध में कुछ न कहना ही उन्हें ठीक मालूम होता था। उन्हें पसन्द नहीं था कि हम किसी बात को योंहीं ठीक मानलें। उनकी यही इच्छा रहती थी कि हम लोगों को किसी बात की सत्यता का निश्चय होजाने पर ही

सत्य पर मनःपूर्वक प्रेम करना चाहिये। वे यह बात समझते थे कि प्रेम के सिवा कोरी अनुमति निष्फल है। वे यह भी जानते थे कि सत्य रास्ता को छोडकर कितना भी भटका जाय तो भी आखिर वह पुनः मिले नहीं रहता। मन की प्रतीति हुए बिना बलात्कार पूर्वक या अन्धश्रद्धा या विश्वास से सत्य का ग्रहण करने से सत्य के अन्तर-तम भाग में प्रवेश करने का मार्ग बिल्कुल बन्द हो जाता है।

तारुण्य अवस्था में अभी मेरा प्रवेश ही हुआ था। मुझे यह कल्पना उठी कि बैल गाडी के द्वारा बडे मार्ग से ठेठ पेशावर तक प्रवास किया जाय। मेरे इस प्रस्ताव का अन्य किसी ने समर्थन नहीं किया। और उस कल्पना को अव्यवहार्य ठहराने के लिये उसमें निःसंशय अडचनें भी बहुत थीं। परन्तु जब पिताजी से इस सम्बंध में मेरी बात चीत हुई तो उन्होंने उत्तेजना देते हुए कहा कि 'बडी मजेदार कल्पना है रेलगाडी से प्रवास करना सचमुच प्रवास नहीं है'। इसके साथ ही साथ उन्होंने घोडे पर या पैदल किये हुए अपने निज के प्रवास का वर्णन किया। उन्होंने वर्णन में यह बिलकुल नहीं आने दिया कि प्रवास में त्रास होता है या संकट आते हैं।

एक दूसरे अवसर पर नीचे लिखी हुई घटना हुई। उस समय पार्कस्ट्रीट वाले मकान में पिताजी रहते थे। और मुझे 'आदि ब्रह्म समाज का' मन्त्री बने थोडे ही दिन हुए थे।

मैं पिताजी के पास गया और मैंने कहा कि मुझे समाज में दूसरी जाति के लोगों को त्याज्य समझ कर सिर्फ ब्राह्मणों द्वारा उपासना होने की जो रिवाज है वह पसन्द नहीं है। पिताजी ने मुझे यह रिवाज यदि मुझ से होसके तो रोकने की बिना किसी आनाकानी के आज्ञा दी। मुझे अधिकार तो मिलगया पर पीछे से मुझे मालूम हुआ कि मेरे में यह रिवाज बन्द करने की बिलकुल शक्ति नहीं है। दोष का तो मुझे ज्ञान था, पर उसके निराकरण की मेरे में शक्ति नहीं थी। और न योग्य मनुष्य को खोजकर उसके द्वारा काम निकलवा लेने की ही मेरे में शक्ति थी। किसी बात को तोडकर उसके स्थान पर दूसरी को रखने के साधन भी मेरे पास नहीं थे। योग्य मनुष्य प्राप्त होने तक न होने की अपेक्षा कोई पद्धति का होना ही श्रेष्ठ है। पिताजी का भी उक्त पद्धति के सम्बन्ध में यही मत रहा होगा परन्तु मेरे आगे मार्ग की अडचनों को रखकर मुझे निराश करने का उन्होंने कभी प्रयत्न नहीं किया।

जिस प्रकार पर्वतों में मन मानी तरह से भटकने की उन्होंने मुझे स्वतन्त्रता दे रखी थी उसी प्रकार तत्वान्वेषण के काम में अपना मार्ग आप खोजने की भी मुझे स्वतन्त्रता थी। मैं भूल करूंगा, इस भय से वे कभी मेरे आडे नहीं आये। और न मेरे संकट में फँस जाने का उन्हें भय हुआ। उन्होंने मेरे आगे आदर्श रख दिया था; पर व्यवस्था का दन्ड उनके हाथ में न था।

प्रवास में मैं बीच बीच में पिताजी से घर के सम्बन्ध में बातचीत करता रहता था। घर से यदि किसी का मेरे नाम पर पत्र आता तो मैं उन्हें बतलाता था। मुझे ऐसा पक्का विश्वास है कि जो मजेदार बातें इन्हें दूसरों से नहीं मालूम होती थीं उनके मालूम होने का मैं एक साधन बन गया था। मेरे बडे भ्राता के पिताजी के नाम जो पत्र आते थे उन्हें बांचने के लिये पिताजी ने मुझे मंजूरी दे दी थी। मुझे पिताजी को किस प्रकार पत्र लिखना चाहिये, यह सिखाने का वह एक मार्ग था। क्योंकि बाह्य रीति रिवाज और शिष्टाचार का महत्व उन्होंने किसी भी प्रकार कम नहीं होने दिया था।

मुझे स्मरण है कि एक बार मेरे दूसरे बडे भाई का पिताजी के पास पत्र आया था जिसमें उन्होंने अपनी नौकरी के संबंध में और काम की ज्यादती के संबंध में शिकायत करते हुए लिखा था कि मरने तक का अवकाश नहीं है। इस पत्र में उन्होंने संस्कृत शब्दों की भर मार कर दी थी। पिताजी ने इस पत्र का अभिप्राय समझाने की मुझे आज्ञा दी। मुझे जैसा मालूम हुआ वैसा अर्थ मैंने पिताजी को समझाया। परन्तु उन्होंने कहा कि इसका अधिक सहज रीति से निकलने वाला अर्थ दूसरा ही है। परन्तु मैं अपने वृथाभिमान के वश अपने अर्थ को ठीक बतलाता रहा और उक्त पत्र के मुद्दे के सम्बन्ध में बाद विवाद करने लगा। दूसरा कोई होता तो मुझे डांटकर बंद कर देता। परन्तु पिताजी ने शांति पूर्वक मेरा कहना सुन

लिया और अपना कहना मुझे समझा देने का खूब प्रयत्न किया।

कभी कभी पिताजी बडी मजेदार बातें मुझसे कहा करते थे। उनके समय के कई रंगीले तरुण लोगों के सबन्ध में उन्हें वहुतसी बातें मालूम थीं। वे कहा करते थे कि उस समय कुछ सुन्दर लोगों के अंग इतने नाजुक होगये थे कि ढाके की मलमल की किनार भी उन्हें चुभा करती। और इस कारण मलमल की किनार निकालकर पहनने की रिवाज उस समय शिष्टजन सम्मत बन गयी थी।

मैंने अपने पिताजी के मुंह से दूध में पानी मिलाने वाले एक गौली का वर्णन पहले पहल सुना, तब मुझे बडा आनन्द आया। लोगों को उस गौली के सम्बन्ध में संशय था कि यह दूध में पानी मिलाता है। इस समय एक ग्राहक ने अपने नोकर को चेताया कि आगे से ऐसा न हो, जरा ध्यान रखना। इस कहने का फल यह हुआ कि दूध और अधिक कालोंच लिये (पानी मिला हुआ) आने लगा। अन्त में जब ग्राहक ने स्वतः गोली से इस सम्बन्ध में कहा तो गौली ने उत्तर दिया कि यदि देख रेख करने वालों की संख्या बढी और उनको मुझे संतुष्ट करना पडा तो दूध अधिकाधिक नीले रंग का होकर अन्त में उसमें मछलियां पैदा होने का अवसर आवेगा।

इस प्रकार पिताजी के पास कुछ दिनों तक रहने के बाद उन्होंने मुझे किशोरी नोकर के साथ वापिस भेज दिया।

प्रकरण सोलहवां

मेरा घर पर वापिस आना।

घर में रहते समय नोकरों के जुल्मी राज्य की जिस शृंखलाने मुझे बांध रखा था वह घर से बाहिर पैर रखते ही टूट गई थी। यह शृंखला मुझे फिर वद्ध नहीं करसकी। घर वापिस आने पर मुझे थोडे से अधिकार प्राप्त हुऐ। इसके पहले तक तो मेरी यह स्थिति थी कि पास रहने के कारण मेरी ओर किसी की दृष्टि ही नहीं जाती थी। परन्तु अव कुछ दिनों तक सबकी दृष्टि से अलग रह आने के कारण पलडा ही फिरा हुआ नजर आया। अब सबकी दृष्टि मेरी ओर फिरने लगी।

स्वातन्त्र्य की मधुरता का पूर्वानुभव मुझे लौटते हुए प्रवास के समय ही मार्ग में होने लगा था। एक नोकर साथ लेकर मैं अकेला ही घूमने को जाया करता था। शरीर की दृढता और मन के उत्साह से मेरे चेहरे पर एक प्रकार से तेज झलकने लगता था। मेरी टोपी पर मोहक वेल बूटे होने के कारण मैं तुरन्त लोगों की निगाह में भर जाता था।

टोपी के कारण मुझे जो जो गृहस्थ मिले उन सबों ने मेरी बडी हंसी उडाई। मैं घर लौट आया। मेरा यह लौटकर आना केवल प्रवास से लौट कर आना ही नहीं था, किंतु एक तरह से नोकरों की कोठरी में से निकल कर अपने घर के अन्तर भाग में अपने योग्य स्थानपर वापिस आना था। मेरी माता के कमरे में जब सब घर की स्त्रियां एकत्रित होतीं तब मुझे सम्मान मिलता था। और सबसे छोटी भोजाई मेरे ऊपर प्रेमामृत का सिंचन करने लगती थी।

बाल्यावस्था में स्त्री जाति की प्रेम पूर्ण सार-संभाल की आवश्यकता होती है। प्रकाश और दया के समान ही संभाल की आवश्यकता होने के कारण छोटे बालक बिना पता दिये उसे प्राप्त कर लेते हैं। बालक ज्यों ज्यों बडे होते हैं त्यों त्यों स्त्रियां अपने फैलाये हुए आस्था रूपी जाल से अपना छुटकारा कराने को अधिक उत्सुक होता हैं, ऐसा कहना अधिक योग्य है। परन्तु जिस अवस्था में सार संभाल होने की आवश्यकता है, उस अवस्था में जिस दुर्दैवी मनुष्य की सार-संभाल नहीं हो उसकी बहुत अधिक हानि होती है। मेरी भी ऐसी ही स्थिति थी। और इसीलिये मेरी सार-संभाल नौकरों द्वारा हुई थी। जब नौकरों से छुटकारा हुआ और आन्तर्गह में मातृ प्रेमामृत की मेरे पर वर्षा होने लगी ऐसे आनंद का अनुभव और ज्ञान मेरे अंतरात्माको बिना हुए कैसे रह सकता था।

जब तक अंतर्गृह के दालानों में स्वतंत्रता पूर्वक मैं आ जा नहीं सकता था तब तक वे इन्द्रभवन से ही प्रतीत होते थे। मुझे बाहर से कारागृह के समान दिखलाई पडने वाला अन्तर्गृह स्वतंत्रता की जन्मभूमि ही मालूम पडता था। जहां न तो पाठशाला थी और न अध्यापक थे। जहां किसी को भी अपनी इच्छा के विरुद्ध काम करने की जरूरत न थी। उस भय रहित एकान्त स्थान के निकम्मे पन के आस पास मुझे गूढता फैली हुई प्रतीत होती थी। वहां किसी को भी अपने काम का हिसाब देने भी जरूरत न थी। यह बात विशेष कर मेरी सब से छोटी बहिन को लागू पडती थी। वह हमारे साथ नील कमल पंडित के पास पढा करती थी। वह चाहे अपना पाठ ठीक तरह याद करे या न करे पर पंडितजी के साथके उसके बराबरी के व्यवहार में बिलकुल अंतर नहीं पडता था। जब दश बजे हम भोजन से निर्वृत्त होकर शाला जाने की गडबड में होते तब वह अपनी खुली चोटी को पीठ पर इधर उधर हिलाती हुई कभी भीतर जाती कभी बाहिर आती और अपने को साथ ले चलने के लिये हमें रोका करती थी। इतने पर भी कभी हमारे साथ स्कूल आती कभी नहीं।

जब सुवर्णालंकारों से सुशोभित एक नवीन वधू हमारे घर में आई तब तो अंतर्गृह की गूढता पहिले से भी अधिक गंभीर हो गई। वह आई दूसरे घरसे थी; पर वह हमारेमें से ही एक बन गई थी। अपरिचित होने पर भी पूर्ण परिचित

हो गई थी। इस नव वधू की ओर मेरा चित्त आकर्षित होने लगा। इसके साथ मित्रता करने के लिये मैं अधिक उत्सुक हो गया था। मैं बडी युक्ति प्रयुक्ति और प्रयास से उसके पास किसी तरह जाता कि इतने में ही मेरी वही छोटी बहिन आ धमकती। और तुम लडकों का यहां क्या काम है, जाओ, बाहर जाओ ऐसा कहकर वह मुझे वहांसे निकाल देती। इस अपमान और निराशा के कारण मेरे हृदय को बडा धक्का बैठता था। उनके कमरे के दरवाजों की संधियों में से उनके भीतरी खेलों को हम क्या कोई भी अच्छी तरह देख सकता था। पर उन लोगों के चित्र विचित्र भपकेदार खिलोनों का स्पर्श करने के ही जब हम पात्र नहीं थे तो फिर उनमें से खेलने के लिये एक खिलौना मांगने का साहस भला हमें क्यों कर हो सकता था। हम लड़कों को कभी न मिलने वालीं आश्चर्य जनक वस्तुएँ अन्तर्गृह में होने के कारण हमें अन्तर्गृह अधिकाधिक प्रिय मालूम होता और उसकी ओर चित्त का अधिक झुकाव होता।

इस प्रकार बारंवार अन्तर्गृह से निकाले जाने के कारण मैं इन सब वस्तुओंसे दूर पड गया था। गहन सृष्टि के समान अन्तर्गृह भी मेरी शक्ति के बाहिर की चीज बन गया था। इसी कारण मेरे मन पर चित्र के समान उसकी छाप पड गई थी।

रात्रि के नौ बजे, अघोरबाबू के पास पढ लेने के बाद मैं सोने के लिये भीतर जाता था। बाहिर के दालान से भीतर के दालान तक जाने का एक लंबा रास्ता था। इस रास्तेमें टिम टिमाता हुआ दीया टंगा रहता था। इस रास्ते के अन्तमें चार पांच सीढियां थीं, इनपर उस दिये का उजाला नहीं पडा करता था। इन सीढियों परसे उतरकर भीतर के पहले चोक में जाते थे। इस चोक के आस पास वरंडा था। जिसके पश्चिम के कोनेमें पूर्व की ओर से चंद्र--प्रकाश पडा करता था। इसके सिवाय ओर सब जगह अंधकार व्याप्त रहता था। इस चंद्र-प्रकाश में घरकी नोकर स्त्रियां एकत्रित होतीं और पैर फैलाकर रुई की बत्ती बटा करतीं और अपने घर द्वार की बातें किया करती थीं। ऐसे अनेक चित्र मेरे हृदय पट पर उकरे हुए हैं।

भोजन के बाद और सोने के पहिले हम इसी बरामदे में हाथ पैर धोया करते थे। फिर अपने लंबे चोडे बिछोने पर पड जाते थे। इसी समय तिंकरी या शंकरी नाम की एक दाई आती और कहानियां या कविता कहकर हमें सुलाने का प्रयत्न करती थी। उस कहानी के खत्म होते ही चारों ओर सुन सान होजाता। इस समय मैं दीवाल की ओर मुंह करके पडा रहता। चूना निकल जाने के कारण दीवाल में जो कहीं २ काले और सफेद खड्डे होगये थे उन को देख देख मैं सोते सोते उनमें से काल्पनिक चित्र बनाया करता था। कभी कभी

जब मेरी आंख खुल जाती तो स्वरूप नामक वृद्ध चौकीदार बरामदे के आस पास फिरकर जो गश्त लगाता और आवाज देता वहभी मुझे सुनाई पडती थी।

हिमालय से लौटकर आनेपर युग परिवर्तन होगया। मैं जिस मान सन्मान की आकांक्षा करता था और जिसकी मेरे मन में बडी उत्कंठा थी वह इस अपरिचित स्वप्न सृष्टि-अंतर्गृह-से मुझे मिलना आरम्भ होगया। और वहभी क्रम क्रमसे नहीं, एकदम। मानों मेरे पहले सब असंतोषों को मिटाना ही हो। इसी कारण मेरा दिमाग भी आस्मान पर चढ गया।

इस छोटे से यात्री के पास प्रवास वर्णन का बडा भारी संग्रह था। पुनरुक्ति हुई कि वास्तविकतामें शैथिल्य आया, और वह भी इतना कि फिर सत्यता का और वर्णन का मेल नहीं बैठ सके। किसी वर्णन में शिथिलता आई कि फिर उसमें रसभी नहीं रहता। इसी लिये वर्णन की सरसता और नवीनता बनाये रखने को वर्णन करनेवाला कोई न कोई नवीन बात उस वर्णन में मिलाया ही करता है। मेरी भी यही दशा थी।

हिमालय से लौटने पर जब गच्ची पर खुली जगह में संध्याके समय मेरी माता और अन्य स्त्रियों का सम्भेलन होता तब वहां मुख्य वक्ता मैं ही हुआ करता था। अपनी माता की दृष्टि में अपना बडप्पन कायम करने की मनुष्य में

तीव्र इच्छा होती है। यह बडप्पन प्राप्त करना जितना सहज होता है उतना ही अपनी इस इच्छा को रोकना कठिन होता है। मैंने नार्मल स्कूल में एक पुस्तक में पढा था कि सूर्य पृथ्वी की अपेक्षा हजारों गुना बडा है। मैंने दौड कर यह बात अपनी मासे कही कि इस बात से यह सिद्ध हुआ कि दिखने में जो छोटा दिखता है उसमें बडप्पन की भी कुछ सम्भावना है। हमारे बंगाली व्याकरण के ग्रंथ में छंद शास्त्र और अलंकार शास्त्र के नियमोंके उदाहरण स्वरूप कविताएँ दीगई थीं। मैं इन्हें अपनी माताको सुनाया करता था। कभी कभी प्राक्टर के ज्योतिष शास्त्र से मुझे जो नई बातें मालूम हुई थीं उन्हें भी मैं साद्यंत इस संध्याकालीन स्त्री-सम्मेलन में सुनाया करता था। मेरे पिता का किशोरी नोकर किसी समय दाशरथी का किया हुआ महाकाव्य का प्रासादिक अनुवाद मौखिक पढने वालोंमें से एक था। जब हिमालय में मैं और यह इकट्ठे बैठते तो वह मुझसे कहा करता था कि दादा, तुम जो हमारी मंडली में होते तो अपन ने ऐसा कोई सुन्दर नाटक किया होता कि कुछ न पूछो" यह सुनकर मुझे भी इच्छा होती कि अपन भी शायर बन कर अपनी कविता को जगह जगह गाते फिरते तो कितनी मजाह आती। किशोरी से मैंने बहुत से पद्य सीखे थे। उक्त स्त्री-सम्मेलन के श्रोता-ओंको सूर्य के तेजोमंडल अथवा शनि, चंद्र आदि ग्रहों के वर्णन की अपेक्षा यह पद अधिक प्रिय मालूम होते थे। और उन्हें सुनने के लिये वे बहुत आग्रह किया करती थीं।

घरकी दूसरी औरतों को रामायण के कृत्तिवास कृत बंगाली अनुवाद से ही संतुष्ट रहना पडता था। वे मूल ग्रंथका अनुभव करने में असमर्थ थीं। मैंने अपनी माता से कह रखा था कि मैं पिताजी के पास वाल्मीकि महर्षि कृत मूल रामायण पढा करता था। उसमें सब संस्कृत ही संस्कृत है। भाषा भी संस्कृत और वृत्तभी संस्कृत। मेरी माता इस समाचार से अपने आपको धन्य समझती और मुझे बडा कर्तव्य शील। वह मुझ से कहा करती कि अरे उस रामायण में से मुझे भी कुछ सुना।

पर मेरा तो उस रामायण का बांचन नाम मात्र ही हुआ था। संस्कृत पुस्तक में रामायण के उदाहरण दिये गये थे। मैंने उतनी ही रामायण पढी थी। और वहभी मैं अच्छी तरह समझ नहीं पाया था। माता के कहने पर जब मैंने इस भाग को फिर देखा तो मैं थोडा बहुत समझा हुआ भी भूल गया हूं ऐसा मालूम पडा। जिसे मैं यह समझता था कि मुझे अच्छी तरह याद है वही मैं भूल चुका था। इतने पर भी अपने अद्वितीय पुत्र की बुद्धि का पराक्रम देखनेकी इच्छा रखने वाली माता से मुझे यह कहने का साहस नहीं होता था कि मैं पढा पढाया भूल गया हूं। आखिर मैंने ज्यों त्यों माता को पढ सुनाया। मैंने जो अर्थ किया वह महर्षिके अर्थ से बहुत ही भिन्न था। मैं समझता हूं कि माता से प्रशंसा प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा रखनेवाले बालक के साहस पर उस मृदु अंत:करण के ऋषिने स्वर्ग में अवश्यक क्षमा की होगी। परन्तु गर्व परिहार करने वाले मधुसूदन ने क्षमा नहीं की।

मेरा यह लोकोत्तर पराक्रम देखकर माता वडी प्रसन्न हुई। वह अपने समान दूसरों को भी मेरे इस आश्चर्यमय कार्य के आनंद में भागीदार बनाना चाहती थी। अतएव उसने आज्ञा दी कि तुझे यह द्विजेन्द्र [मेरे सबसे बडे भाई] को सुनानाही चाहिये।

अब मैं घबडाया। मेरे गर्व परिहार का अवसर आते देख मैं बहाने बनाने लगा। परन्तु मेरी माताने एक भी नहीं सुनी और द्विजेन्द्र को बुलाही लिया। द्विजेन्द्र के आने पर गद्गद स्वर से कहने लगी कि देख "रवी कितने अच्छे ढंग से रामायण वांचता है, तू भी सुन।

मेरे लिये अब कोई गति नहीं थी। मुझे वांचना ही पडा। मालूम होता है कि आखिर उस मधु सूदन को मेरी दया आगई और वह गर्व परिहार करने के लिये उतारू नहीं हुआ। उस समय मेरे भाई को भी कुछ पढने लिखने का जरूरी काम था। माता के बुलाने पर वह आ तो गया पर मेरे भाषान्तर के कार्य में उसने कुछ उत्सुकता नहीं दिखाई। अतः मेरे थोडे से श्लोक वांचते ही वह यह कर चला गया कि "बहुत अच्छा"।

अन्तर्गृह में प्रवेश हो जाने के बाद मुझे शाला में जाकर पढने का काम बहुत कठिन प्रतीत होने लगा। एकेडेमी से अपना छुटकारा कराने के लिये मैंने अनेक बहाने बनाये।

इसके बाद मैं सेंट जूनियर स्कूलमें भरती किया गया, पर वहां भी वही हालत थी।

लहर आते ही मेरे भ्राता मेरे सुधार के लिये क्षणिक प्रयत्न करते और फिर छोड देते। इस प्रकार कुछ दिनों तक चला। अंतमें उन्होंने मेरी आशा छोड दी। मेरी एक सबसे बडी बहिन थी। एक दिन उसने कहा कि "हम सबों को आशा थी कि रवी कोई बडा आदमी होगा"। पर इसने पूर्ण निराश कर दिया। मैं भी अनुभव करने लगा कि कुटुम्बमें अपनी कीमत कम होती जा रही है। इतने पर भी पाठशाला रूपी चक्कीके डंडे से अपने आपको बांध लेने का मुझसे निश्चय नहीं हो सका। वास्तव में वह शाला चक्की ही थी। उसमें न केवल सौंदर्य ही नहीं था किन्तु रुग्णालय और जैल के समान घृणा एवं क्रूरता का संगम हो गया था।

सेंट जूनियर स्कूल की एक महत्ता पूर्ण बात मुझे आज भी ज्यों की त्यों याद है। वह बात वहांके शिक्षकों के संबंध में है। यद्यपि सर्व शिक्षक एक ही वृत्तिके नहीं थे, विशेषतः हमारे वर्ग के शिक्षकों में तो संन्यस्त वृत्ति का अंश भी मुझे नहीं दिखाई पडा। उन शिक्षकों में 'शिक्षण यंत्र' की अपेक्षा मुझे कुछभी भिन्नता नहीं दिखलाई पडी। यह शिक्षणयंत्र. (शिक्षक) पहिले ही बलाढ्य है। यदि यह यंत्र धार्मिक वाह्य विधि रूपी पाषाण की चक्की से संलग्न हो जाय तो फिर तरुण बालकों का अन्तःकरण पिलकर शुष्क हुए बिना नहीं रह

सकता । वाह्य शक्ति से चालन पाने वाली तेल की घाणी का यह सेंट जेनियर शाला, एक उत्कृष्ट नमूना थी । तो भी उस शाला में कुछ ऐसी बातें थीं जिनसे मेरा मत वहांके शिक्षकों के संबंध में उच्च प्रति का था ।

मेरी उक्त स्मृति "फादर डी पेनेरंड' के संबंध में है । हमसे उन का बहुत कम संबंध आता था । यदि मेरी स्मृति ठीक है तो मुझे इतना ही याद है कि उन्होंने हमारे वर्ग के एक शिक्षक के स्थान पर कुछ दिनों तक काम किया था । ये जाति के स्पॅनिअर्ड थे । ऐसा मालूम होता था कि उन्हें अंग्रेजी बोलने में कुछ कष्ट होता है । इसी लिये शायद उनके पढाने की ओर लडकों का बहुत कम ध्यान जाता था । और इस पर उन्हें मन में कुछ दुःख हुआ करता था । इस दुःख को उन्होंने चुपचाप बहुत दिनों तक सहन किया । मुझे इनके प्रति बहुत सहानुभूति रहती थी और मेरे मन का खिंचाव इनकी ओर हुआ करता था । मैं नहीं कह सकता कि ऐसा क्यों हुआ करता था । वे कुछ नाक कान से खूब सूरत भी नहीं थे; पर उनके चेहरे में ऐसा कुछ आकर्षण था कि मेरा मन उनकी तर्फ आकर्षित हुए बिना नहीं रहता था । जब जब मैं उनकी ओर देखता मुझे ऐसा भान होता कि मानों उनकी आत्मा उपासना में लीन है और अन्तर बाहिर शांतता ही शांतता फैली हुई है ।

कापी लिखने के लिये आधे घंटे का समय नियत था। यह समय हाथ में कलम लेकर इधर उधर देखने अथवा कुछ विचार करते हुए बैठे रहने में व्यतीत कर दिया जाता था। एक दिन 'फादर डी पेने रंड' इस कापी के वर्ग में आये। वे हमारी बैठक के पीछे इधर उधर घूम रहे थे। उन्होंने शायद यह देखा ही होगा कि बहुत समय तक मैंने कापी में कुछ नहीं लिखा। अतएव वे एका एक मेरे पीछे ठहर गये। और झुककर धीरेसे उन्होंने अपना हाथ मेरे कंधे पर रख दिया। और प्रेमसे पूछा कि "ठाकुर' क्या तेरी तबियत ठीक नहीं है। प्रश्न अत्यंत सीधा सादा था। पर वह अभी तक मेरी स्मृति पर ज्यों का त्यों मौजूद है।

इनके संबंध में दूसरे लडकों का क्या मत था यह मैं नहीं कह सकता। पर मुझे तो उनमें परमात्मा के अस्तित्वका भान होता था। और आज भी उनकी स्मृति मुझे परमात्मा के नितांत रमणीय एवं प्रशांत आलय में प्रवेश करने का परवाना दे रही है, ऐसा माल्रूम होता है।

इस स्कूल में और भी एक वृद्ध "फादर' थे। इन पर भी सब बालकों का प्रेम था। इनका नाम 'फादर हेन्री, था। ये उच्च कक्षाओंको सिखाते थे। इस कारण मैं इन्हें अच्छी तरह नहीं जानता था। इनकी एकही बात मुझे याद है। इन्हें बंगाली भाषा आती थी। इन्होंने 'नीरोद' नामक एक

बालक से पूछा कि तेरे नाम की व्युत्पत्ति बता। वेचारा निरोद, अपने नामकी व्युत्पत्ति के संबंध में अब तक बिल्कुल वें फिक्र था। इसलिये इस प्रश्न का उत्तर देने में वह आगा पीछा करने लगा। इसके सिवाय गहन और अपरिचित शब्दों से भरे हुए कोश-ग्रंथों परसे भला कौन अपने नाम की छान बीन करेगा ?। यह कहां की खटखट ?। यह तो अपनी गाडी के नीचे दबकर ऊपर से गाडी निकलने के समान ही दुर्दैव की बात है। आखिर निरोद ने धृष्टता पूर्वक उत्तर दिया कि 'नि' यह अभाव दर्शक शब्द और रोद अर्थात् सूर्य की किरण, अतएव निरोद का अर्थ हुआ सूर्य किरणों को नष्ट करनेवाला×।

प्रकरण सत्रहवां.

घरू पढाई।

इन दिनों पंडित वेदान्त वागीश के सुपुत्र ज्ञानबाबू हमारे गृहा-ध्यापक थे। उन्हें जब यह मालूम होगया कि स्कूल के शिक्षण-क्रम की ओर मेरा चित्त लगना अशक्य है और

× 'नीरद' संस्कृत शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है नीर=पानी, द=देनेवाला=पानी देने वाला। वंगाली में इसका उच्चारण 'निरोद' होता है।

इस के लिये प्रयत्न करना निरर्थक है, तब उन्होंने इस संबंध में अपना प्रयत्न करना बंद कर दिया और दूसरे ही मार्ग का अवलंबन किया। उन्होंने मुझे महाकवि कालिदास का 'कुमार सम्भव' काव्य पढाना प्रारम्भ किया। और उसका अर्थ मुझे बताया। इस के बाद 'मॅक वेथ' इंग्लिश काव्य) पढाया। पहिले तो वे मुझे मूल पुस्तक का भाव बंगाली में समझा देते थे और फिर समझाये हुए अंश का मुझ से पद्यानुवाद कराते थे। जब तक पद्यानुवाद पूरा न होता तब तक वे मुझे अपने कमरे में घेरे रखते थे। इस प्रकार उन्होंने मुझ से पूर्ण नाटक का अनुवाद कराया। सुदैव से यह अनुवाद कहीं खोगया और मैं अपने उस कर्म के भार से मुक्त हो गया।

हमारी संस्कृत पढाई की प्रगति देखने का भार पं. रामसर्वस्व को सोंपा गया था। उन्होंने भी अपनी पढाई स अप्रसन्न विद्यार्थी (मुझ) को व्याकरण सिखाने का निरुपयोगी काम छोड दिया और उस के बदले में हमें 'शाकुन्तल' पढाना प्रारंभ किया। एक दिन इन्हें मेरे द्वारा किया हुआ 'मेकवेथ' का पद्यानुवाद पं. विद्यासागर को बताने की इच्छा हुई और वे मुझे लेकर उनके घर गये। उस समय विद्यासागर के पास राजकृष्ण मुकर्जी भी आये हुए थे और वहां बैठे थे। पुस्तकों से खचाखच भरे हुए उनके कमरे को देखते ही मेरी

छाती धडकने लगी। और उन की गंभीर मुद्रा देखकर मुझे भय भी हुआ। परंतु साथ ही अपने काव्य के लिये ऐसे प्रतिष्ठित श्रोता मिलने का पहलाही प्रसंग होने के कारण मुझे कीर्ति प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा भी उत्पन्न हुई। यहांसे मैं नवीन उत्साह प्राप्त कर घर को लौटा। राजकृष्ण बाबू ने मुझे विदूषक-पात्रों की भाषा व काव्य दूसरे रूपों में करने का ध्यान रखने की सूचना देकर अपना समाधान किया।

मेरी इस अवस्था में बंगाली साहित्य बहुत ही बाल्यावस्था में था। उस समय वांचने और न वांचने योग्य जितनी भी पुस्तकें थीं; शायद मैंने सभी पढ डाली थीं। उस समय केवल बालकों के पढने योग्य कोई भिन्न पुस्तकें नहीं बनी थीं। मैं यह विश्वास पूर्वक कह सकता हूं कि इस प्रकार के वाँचन से मेरी कोई हानि नहीं हुई। आज कल बालकों के उपयोग के लिये वाङ्मय रूपी अमृत में जल मिलाकर उसकी स्निग्धता कम करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार के साहित्य में केवल बालकों के ही योग्य बहुतसी बातों का वर्णन रहता है। परंतु बालक वृद्धिशील मानव प्राणी है, इस दृष्टि बिन्दु से उनके उपयोग में आने लायक कोई भी बात इस प्रकार के साहित्य में नहीं होती। बाल–साहित्य इस प्रकार का होना चाहिये कि उसमें कुछ बातें उनकी समझ में आने योग्य हों और कुछ आने योग्य न हों। हम अपनी बाल्यावस्था में जो पुस्तक मिलती उसे अथ से इति तक वांच डालते थे और

उसमें का समझ में आया हुआ और न आया हुआ दोनों प्रकार का भाग हमारे में विचार लहर पैदा करता था। बालकों की ज्ञान शक्ति पर वाह्य सृष्टि का प्रत्याघात इसी रीति से हुआ करता है। बालक को पुस्तक की जो बात समझ में आजाती है उसे वह पचा लेता है और जो बात उसकी ग्राहक शक्ति के बाहर की होती है वह उसे एक पैर आगे बढाने में सहायता करती है।

दीनबंधु मित्र के जो समालोचनात्मक निबंध प्रकाशित हुए उन्हें वांचने योग्य अवस्था उस समय मेरी नहीं थी। हमारी एक रिश्तेदार स्त्री उन्हें पढा करती थी। मैं कितना भी आग्रह करूं तो भी वे पुस्तकें मुझे देने की उन्हें इच्छा ही न हो। उन्हें वे ताले में बंद करके रखा करती थीं। उन पुस्तकों को अप्राप्य समझने से मुझे और भी अधिक आग्रह हुआ कि किसी तरह से इन पुस्तकों को प्राप्त करना और वांचना चाहिये!

एक दिन दुपहर के समय वे पत्ते खेल रही थीं। लुगडे के पल्ले से चाबी बंधी हुई थी, और उनके कंधे पर वह पल्ला पडा हुआ था। मैं पत्ते के खेल में कभी ध्यान नहीं लगाता था। इतना ही नहीं, मुझे इस खेल से घृणा भा थी। परंतु उस दिनका मेरा व्यवहार मेरी इस मनोवृत्ति से सर्वथा विरुद्ध था। मैं खेल में तल्लीन होगया था। जब वे बाई एक दांव के जीतने की गडबड में थी, तब मैंने चाबियां उनके

पल्ले से खोलने का प्रयत्न किया, परंतु मैं इस काम में निपुण नहीं था। अतः मैं पकडा गया। उन्होंने लुगडे के पल्ले को और चाबियों को अपनी गोदी में रखलिया, और फिर खेलने में तल्लीन होगई।

मुझे तो वह पुस्तक पढने की धुन थी। अतः मैंने फिर एक तरकीब सोची। उस बाई को पान खाने का भी शोक था। अतः मैंने उन्हें पान के बीडे दिये। उन्हें खाकर वे थूकने को उठीं। इस बार उन्होंने अपने पल्ले को फिर कंधे पर डाल लिया। अब मैंने अपना काम सफाई से किया, और उसमें सफल हुआ। उनकी चोरी होगई। पुस्तकें मैंने पढ डालीं। जब उन्हें मालूम हुआ तब वे मुझ पर नाराज होने का प्रयत्न करने लगीं। परंतु असफल! क्योंकि उन्हें और मुझे दोनों को ही उस समय हँसी आगई।

राजेन्द्रलाल मित्र, एक विविध विषय पूरित मासिक पत्र प्रकाशित करते थे। वर्ष के सम्पूर्ण अंकों को एकत्रित कर उनकी जिल्द बंधा ली गई थी। और वह मेरे तीसरे भाई की आलमारीमें थी। इसे भी मैंने प्राप्त किया और पढा। इसे बार बार साद्यंत पढने से मुझे जो आनंद होता था, उसकी स्मृति आज भी मुझे हुआ करती है। विस्तरे पर चित्त–लेट जाता, और उस चौकोनी पुस्तक को छाती पर रख कर पढा करता था। उसमें से नावेल, व्हेल मछली का

वर्णन, पूर्वकाल के काजियों का न्याय और कृष्ण कुमारी की कथा आदि पढने में कितनी ही छुट्टियों के दुपहर का समय मैंने व्यतीत किया है।

आजकल हमारे यहां इस प्रकार के मासिक पत्र प्रकाशित नहीं होते। आज कल मासिक पत्रों में या तो तत्वज्ञान विषयक शास्त्रीय चर्चा रहती है, या नीरस कहानियां, या प्रवास वर्णन आदि की रेल-पेल। इंगलेंड में जिस प्रकार चेम्बर्स, कॅसल्स, स्ट्रॅंड, आदि सर्वसाधारण पाठकों का मनोरंजन करने वाले, उपयोगी, जन साधारण सुलभ, ध्येय का आडंबर न कर विविध विषयों का ऊहापोह करने वाले, मासिक पत्र प्रकाशित होते हैं; उस प्रकार हमारे यहां नहीं होते।

मैंने अपनी बाल्यावस्था में एक ओर छोटासा मासिक पत्र पढा था। इसका नाम था "अबोध-बन्धु"। इसका संग्रहित व्हाल्युम (जिल्द) मुझे अपने सब से बडे भाई के पुस्तक संग्रह में मिला। उसे मैंने उन्हीं के पठन-ग्रह के दक्षिण की ओर जो गच्ची थी उस के द्वार की देहली में बैठकर कितने ही दिनों तक पढा। बिहारीलाल चक्रवर्ती की कविता से मेरा प्रथम परिचय इसी पत्र से हुआ। इस समय तक मैंने जितनी कविता पढी थीं, उन सबों से मेरा मन इसीने अधिक आकर्षित किया। उनके रसात्मक काव्य का अकृत्रिम-बीनारव मेरे अन्तर में वन्य-संगीत के द्वारा कल्लोल पैदा करता था।

इसी मासिक पत्र में 'पॉल और व्हर्जिनीया' नामक पुस्तक का करुण रस पूरित अनुवाद पढते पढते कितनी ही बार मेरे नेत्रों में पानी भर आया है। वह विस्मय कारक समुद्र, उसके किनारे पर का वायु के झोंको से लह-लहाता हुआ नारियल के वृक्षों का वह बन, पर्वत की दूसरी ओर जंगली बकरियों के झुंड का ऊपर से उतर ने का वह दृश्य, आदि वर्णन ने कलकत्ते में हमारे घर की उस गच्ची पर मृग--जल की मोहिनी निर्माण कर दी थी। बंगाली बाल-वाचक और रंग बिरंगे रूमाल को सिरपर लपेटी हुई 'व्हर्जिनी' इन दोनों में उस निर्जन द्वीप के वनपथ में जो रमणीय प्रेमाकर्षण की कथा चल रही थी वह एक अद्भुत ही थी।

इस के बाद जो पुस्तक मैंने पढी वह थी बंकिमबाबू का "वंगदर्शन" नामक मासिक पत्र। इस पत्र ने बंगालियों के अन्तः करण को आन्दोलित कर रखा था। पहिले तो नया अंक आने तक की बाट जोना ही कष्ट दायक होता था। उसके बाद जब वह आजाता तब पहिले बडों के हाथ में जाता और उनके पढलेने तक मुझे जो बाट देखना पडती वह तो एक दम असह्य होजाती थी। आज कल तो इच्छा होनेपर चाहे जो 'चन्द्रशेखर' और 'विषवृक्ष' को एक साथ पढ सकता है। परंतु वह बहुत समय तक टिकने वाला आनंद अब किसी को नहीं मिल सकता, जब कि हर महिने उत्कंठित रहना पडता था। आज आयगा, कल आयगा, ऐसी

मार्ग प्रतीक्षा करना पडती थी। कुछ हिस्सा इस अंक में पढा, और कुछ आगे के में। उन का संदर्भ याद रखना पडता था।और एक बार पढ लेनेपर भी तृप्ति न होने तक बार २ पढने की इच्छा पूर्ण करना पडती थी।

शारदा मित्र और अक्षय सरकार ने प्राचीन कविओं की कविताओं का संग्रह पुस्तक--माला के रूप में प्रकाशित करना प्रारंभ किया था। इस माला के भी हम ग्राहक थे। इस माला की पुस्तकों को हमारे वडे बूढे नियमित रूप से नहीं पढा करते थे, अतः इन पुस्तकों को प्राप्त करने में मुझे कठिनाई नहीं पडती थी। विद्यापति की मैथिली भाषा एक अजब तरह की और दुर्बोध थी। उसकी दुर्बोधता के कारण ही मेरा मन उस की ओर आकर्षित हुआ करता था। मैं इस के संपादकों की टिप्पाणियां विना देखे ही अर्थ लगाने का प्रयत्न किया करता था। और दुर्बोध तथा संदिग्ध शब्द जितनी २ बार आते उतनी २ बार उन्हें मैं संदर्भ सहित अपने नोट बुक में लिख लिया करता था। साथ में व्याकरण से सबंध रखने वाली विशेष २ बातें भी मैं अपनी समझ के अनुसार लिख लेता था।

प्रकरण अठारहवां

घरकी परिस्थिति ।

मेरी बाल्यावस्था में मेरे हितकी बात यह थी कि हमारे घर का वातावरण साहित्य और ललित कला से ओतपोत भरा हुआ था । मिलने को आने वालों से भेंट करने के लिये एक भिन्न-गृह था । जब मैं बिलकुल छोटा था तब इस-गृह के अन्दर बरामदे के कठडेसे टिककर किस तरह खडा रहता था, यह मुझे अच्छी तरह याद है । यहां रोज शाम को दीप-प्रकाश रखा जाता और सुंदर २ गाडियां आकर खडी होतीं। मिलने के लिये आने वाले लोगों का बराबर आवागमन जारी रहता । भीतर क्या होता था, यह मैं अच्छी तरह नहीं समझ पाता था तो भी प्रकाशित खिडकियों के पास अंधेरे में खडा होकर मैं बराबर भीतर के हालात देखता रहता था। यद्यपि भीतर का स्थान मुझ से कुछ अधिक दूर न था। परंतु मेरे बाल्यावस्था के जगत से इसका अंतर बहुत अधिक था । मुझसे बडा मेरा एक चचेरा भाई था । इसका नाम था गणेन्द्र । पंडित तर्क रत्न का लिखा हुआ एक नाटक यह हाल ही में लाया था । और उस नाटक को घर में जमाने का उसका काम चालू था । साहित्य और ललित कला के संबंध में उसके उत्साह की सीमा नहीं थी । वह उन लोगों में मेरुमणि के समान था, जो दिखाई देनेवाले पुनरुज्जीवन

को सब ओर से व्यवहार में आया हुआ देखना चाहते हैं। इसमें और इस के साथियों में पोशाक, साहित्य, संगीत, कला, और नाट्य सबंधी राष्ट्रीय भावना बडे जोश के साथ उत्पन्न हुई थी। इसने भिन्न २ देशों के इतिहास का सूक्ष्म रीति से परिशीलन किया था, और बंगाली में इतिहास लिखने का काम प्रारंभ भी कर दिया था। परंतु उस के हाथ से यह काम पूरा न हो सका।

'विक्रमोर्वशीय' नामक संस्कृत नाटक का अनुवाद कर के उसने प्रकाशित किया था। प्रसिद्ध २ स्तोत्रों में से बहुत से स्तोत्र उसी के रचित हैं। यह कहने में कोई हानि नहीं है कि स्वदेश भक्ति पूर्ण कविता या पद बनाने का उदाहरण हमने उसीसे लिया। यह उन दिनों की बात है जब कि वर्ष में एक बार हिन्दू मेला भरता और उस में "हिन्द भूमिका यश गाने में लज्जा हम को आती है" यह उसका बनाया हुआ पद गाया जाता था।

मेरा यह चचेरा भाई भर जवानी में मरा। उस समय मैं बहुत ही छोटा था। परन्तु जिसने उसे एक बार देखा होगा वह उसकी लंबी, सुन्दर और प्रभाव शाली आकृति कभी नहीं भूलेगा। समाज पर उसका अनिवार्य प्रभाव था। लोगों का मन अपनी ओर खींचने और उसे अपनी ओर बनाये रखने की कला उसे अच्छी तरह सिद्ध होगई थी।

जब तक उसकी आकर्षित मूर्ति किसी मंडल में होती तब तक उसमें फूट पडना शक्य ही नहीं था। अपनी आकर्षण शक्ति के द्वारा जो अपने कुटुम्ब, ग्राम या नगर के केन्द्र स्थान बन जाते हैं, ऐसे लोगों में से वह भी एक था। जिन जिन देशों में राजकीय, व्यापारिक अथवा सामाजिक संस्थाएं उत्कर्ष रूप में रहती हैं, उन देशों में जन्म प्राप्त होने पर ऐसे लोग राष्ट्र के नेता बने बिना नहीं रहते। बहुत से लोगों को एकत्रित कर उनका प्रभाव शाली और कर्तृत्ववान संघ बनाने में किसी विशेष प्रकार की प्रतिभा की आवश्यकता होती है। हमारे देश में इस प्रकार की प्रतिभा व्यर्थ चली जाती है। आकाश से तारा तोडकर उससे एक तुच्छ दिया सलाई का काम लेने के समान ही हमारे देश में ऐसे व्यक्तियों का करुणास्पद दुरुपयोग होता है। गणेन्द्र के छोटे भाई गुणेन्द्र [सुप्रसिद्ध चित्रकार गणेन्द्र और अवनीन्द्र के पिता] की मुझे उससे भी अधिक याद है। गणेन्द्र के समान इसने भी हमारे घर में अपना विशिष्टत्व स्थापन कर रखा था। वह अपने अन्तःकरण से अपने स्नेही, मित्र, कुटुम्बी, रिश्तेदार सबों का ध्यान रखता था। यही कारण था जो सदा उस के आस पास बिना बुलाये ही लोगों का जम-घट्ट लगा रहता था, चाहे वह कहीं पर भी क्यों न हो। उन लोगों में वह ऐसा मालूम होता था कि मानो स्वयं आदर ही मूर्तिमान होकर अवतरित हुआ है। कल्पना और बुद्धिमत्ता, इन दोनों गुणों

का वह बडा आदर करता था । ओर इसलिये उसमें सदा उत्साह झलका करता था । उत्सव हो, त्योहार हो, विनोद नाटक हो, अथवा दूसरा कुछ हो, जहां कोई नवीन कल्पना निकली कि उसने उसे आश्रय दिया । उसकी सहायता से वह कल्पना वृद्धि को प्राप्त होकर सफल हुए बिना नहीं रहती थी ।

इस हलचल में शामिल होकर कुछ करने योग्य अवस्था अभी हमारी नहीं थी । परन्तु इससे उत्पन्न होने वाले नव-जीवन और आनन्द की लहरें हमारे तक आतीं और कौतूहल के द्वार को धक्का दिया करती थीं । मुझे ऐसी याद है कि हमारे सब से बडे भाई के रचेहुए एक प्रहसन की तालीम चचेरे भाई के दीवान-खाने में दी जाती थी । मैं अपने घरके बरांडे के कठडे के पास खडा रहता । वहां मुझे उसे दीवान खाने में जो जोर से हँसी चलती वह और हास्योत्पादक गाने का आलाप सुनाई पडा करता था । साथ में अक्षय मजूमदार की बिनोदी बातों की भनक भी हमारे कान पर बीच २ में पड जाती थी । हम उन गानों को बराबर उस समय समझ तो न सके, परंतु पीछे से कभी न कभी उन गानों को ढूंढ निकालने की उम्मीद हम में जरूर थी ।

मेरे मन में गुणेंद्र के प्रति विषेश आदर उत्पन्न करने वाली एक छोटी सी बात होगई, यह मुझे अच्छी तरह स्मरण है । मुझे अच्छे चालचलन के संबंध में एकबार परितोषक

मिलने के सिवाय और कभी कोई भी परितोषक पाठशाला में नहीं मिला था। हम तीनों में 'सत्य' अभ्यास करने में अच्छा था। एक परीक्षा में उसे अच्छे नंबर मिले, और इस कारण उसे परितोषक भी मिला। घर में पहुँचते ही बगीचे में गुणेंद्र था, उससे कहने के लिये मैं गाड़ी मेंसे कूदकर जोर के साथ भागा। और भागते २ ही चिल्लाकर मैंने उससे कहा कि सत्य को इनाम मिला है। उसने हंसते हंसते मुझे अपने पास खींचकर पूछा कि क्या तुझे कोई इनाम नहीं मिला ?। मैंने उत्तर दिया कि मुझे नहीं, सत्य को मिला है। सत्य को मिली हुई विजय से मुझे जो आनन्द हुआ उसे देख-कर उसका गला भर आया। उसने अपने एक मित्र से उसी समय कहा कि इसके स्वभाव की यह कितनी श्रेष्ठ बाजू है। मुझे यह सुनकर एक आश्चर्य ही हुआ। क्योंकि मैंने अपनी मनोभावना की ओर इस दृष्टि से कभी नहीं देखा था। पाठशाला में इनाम न मिलने पर भी घर पर जो मुझे यह इनाम मिला, उससे मेरा कुछ भी लाभ नहीं हुआ। बालकों को देनगी देना बुरा नहीं है, परंतु इनाम के रूप में नहीं देना चाहिये। क्योंकि बिलकुल छोटी अवस्था में अपने गुणों की जानकारी होना कुछ विशेष लाभ दायक नहीं होता।

दुपहर का भोजन समाप्त होजाने पर गुणेंद्र जमीदारी कचहरी में जा बैठता था। हमारे वृद्ध पुरुषों की कचहरी

एक प्रकार का क्लब ही था । यहां हंसना, खेलना, गप्पें मारना, वगैरह सब कुछ हुआ करता था । गुणेंद्र एक कोच पर पड़ जाता था । उस समय मौका देख मैं भी उसके पास धीरे से चला जाता था । प्रतिदिन वह मुझे हिंदुस्तान के इतिहास की बातें बताया करता था । 'क्लाइव' का हिंदुस्तान में आना, उसका यहां वृटिश राज्य का जमाना, फिर विलायत लौटकर आत्म घात करना, आदि बातें सुनकर मुझे कितना आश्चर्य हुआ था, इसका मुझे अभी भी स्मरण है । जिस दिन मैंने यह सब बातें सुनीं उस दिन मैं दिनभर इसी विचार में गुंग रहा कि यह कैसे हो सकता है कि एक ओर तो नवीन इतिहास का उदय है, और दूसरी ओर अन्तःकरण के गहन अंधकार में दुःख पर्यवसायी भाग दबा हुआ है । एक ओर अंतरंग में इस प्रकार गहन अपयश और दूसरी ओर देश की उत्तुंग फडकती हुई ध्वजा ?

मेरे खीसे में क्या रखा हुआ है, इस संबंध में गुणेंद्र को संशय न होने पावे, इसलिये मैं उत्तेजन मिलते ही अपने हाथ की लिखी पोथी बाहर निकाल लेता था । यह कहने की आवश्कता नहीं है कि गुणेंद्र कठोर या गर्मागर्म समालोचक नहीं था । वास्तव में पूछा जाय तो उसके मत का उपयोग तो किसी विज्ञापन के समान लाभ दायक होता था, परंतु मेरी कविता तो बिलकुल ही लड़कपन की होती थी । इसलिये वह मनः पूर्वक "अहाहा" यही उद्गार निका-

लता था । एक दिन "हिन्द माता" पर मैंने एक रचना की । उसकी एक पंक्ति के अंत में रखने के लिये हाथगाडी वाचक एंक शब्द के सिवाय दूसरा उसी तरह का शब्द मुझे याद न आया । वह शब्द बिलकुल ही योग्य नहीं था । तो भी 'यमक' के निर्वाह के लिये मैंने जब्रन उसी शब्द को घुसेड दिया । 'यमक' अपने घोडे को बराबर आगे रखना चाहते थे और अपने हक का समर्थन कर रहे थे। इसलिये यमक निर्वाह न करने के तर्क की कोई बात नहीं मानी गई और यमक का हक बराबर बना रहा ।

उन दिनों मेरे सब से बडे भाई अपनी " स्वप्नप्रयाण " नामक पुस्तक लिख रहे थे । यह उनकी पुस्तकों में सबसे श्रेष्ठ पुस्तक है । इसे वे दक्षिण की ओर के बरामदे में गादी-पर बैठकर और अपने सामने डेस्क रखकर लिखा करते थे । गुणेन्द्र भी इस जगह प्रति दिन सुबह आकर बैठता था । सदा आनन्द में रहने की उसकी विलक्षण शक्ति, वसंत की वायु की लहरों के समान काव्य-लता में नवीन अंकुर फूटने में उपयोगी पडती थी । मेरे ज्येष्ठ भ्राता का प्रायः यह सदा का क्रम था कि वे पहिले लिखते फिर उसे जोर जोर से बांचते । और बांचते २ अपनी कल्पना की विलक्षणता पर खूब जोरसे हंसते । जिस के कारण सारा बरामदा गजगजा उठता था । उन की कवित्व शक्ति इतनी उर्वर थी कि पहिले तो वे बहुत ज्यादह लिख डालते फिर उसमें से छाँटकर

पुस्तक की असल प्रति में लिखते थे। वसंत ऋतु में जिस तरह आम्र–वृक्षपर अधिक आया हुआ मोर झडकर पृथ्वीपर बिखर जाता है, उसी प्रकार उन के " स्वप्नप्रयाण " के छोडे हुए भाग के पन्ने घरभर में बिखरे हुए थे। यदि किसीने उन्हें एकत्रित कर संभाल कर रखे होते तो उनका हमारे बंगला साहित्य के लिये भूषणभूत एक पुष्प–करंड ही बन गया होता।

द्वार की संधियों में से अथवा कोनों में से देख २ कर हम इस काव्यमय मिजवानी का रसास्वाद करते रहते थे। इस मिजवानी में इतने अधिक पकवान बनाये जाते कि वे आखिर बच ही रहते। मेरे ज्येष्ठ भ्राता इस समय अपने महान सामर्थ्य--वैभव की उच्च शिखर पर पहुंच गये थे। उनकी लेखनी से कवि–कल्पना का जोरदार प्रवाह बहने लगता था। उसमें यमक और सुंदर भाषा की लहरों पर लहरें उठतीं थीं, और किनारे से टकराकर विजय–गीत की आनंद ध्वनि से दसों दिशाओं को गुंजित कर डालती थीं। हमें क्या " स्वप्नप्रयाण " समझ में आता था? और न समझें तो भी क्या हुआ? उसके रसास्वाद के लिये समग्र समझने की आवश्यकता थोडे ही थी। समुद्र के अत्यन्त गहराई में रही हुई सम्पत्ति डुबकी मारने पर यदि हमें प्राप्त भी होती तो भी हमें उससे क्या लाभ होता, जब कि

किनारे पर टकराने वाली लहरों के आनंदातिशय में ही हम गर्क हो चुके थे और उनके आघात से हमारी रक्त वाहिनी नाडियों में जीवन रक्त खूब वह रहा था।

उन दिनों का मैं जितना अधिक विचार करता हूं उतनाही मुझे अधिक विश्वास होता है कि अब आगे 'मजलिश' नामक वस्तु मिलने वाली नहीं है। अपने सामाजिक बंधुओं से हिल मिल कर व्यवहार करने का जो हमारे पूर्वजों में विशेष गुण था, उस गुण की अंतिम किरण मैंने अपनी बाल्यावस्था में देखी। उस समय अपने अडोसी पडोसियों के प्रति प्रेमपूर्ण मनोवृत्ति इतनी नजदीक थी कि 'मजलिश' एक आवश्यकीय बात बन गई थी। और जो इस की उत्कृष्टता को जितना अधिक बढाता उसकी उतनी ही अधिक चाह होती थी। समाज को ऐसेही लोगों की बहुत आवश्यकता रहती है। आजकल या तो किसी कार्य विशेष के कारण अथवा सामाजिक कर्तव्य के लिहाज से लोग एक दूसरे से मिलने को जाया करते हैं। एकत्रित होकर कुछ काल व्यतीत करने के उद्देश्य से कोई किसी के पास नहीं जाता। या तो आजकल के लोगों को समय ही नहीं रहता अथवा पहिले जैसा प्रेम ही नहीं रहा। उस समय यह हालत थी कि कोई आरहा है तो कोई जारहा है। कोई गप्पें मार रहे हैं। हँसी उड रही है। गप्पों और हंसियों की आवाज से कमरे गजगजा रहें हैं। एकत्रित लोगों में अगुआ बनकर मनोरंजक

कहानियाँ इस तरह से कहने का प्रयत्न किया जारहा है कि कहीं विरसता पैदा न होने पावे। उस समय के मनुष्यों की यह शक्ति आजकल नष्ट होरही है। आज भी लोग आते जाते हैं परंतु आज वे कमरे शून्य और भयानक दिखलाई पडते हैं।

उस समय दीवान खानेसे लेकर रसोई घर तक की सब वस्तुएं सब लोगों के उपयोग में आसकने की व्यवस्था की गई थी। इसलिये ठाठ बाट और भपके में कभी कोई रूपांतर नहीं होता था। आज कल श्रीमंती के उपकरण तो बहुत बढ गये हैं परंतु उनमें प्रेम नहीं रहा। और न इन साधनों में सब श्रेणी के लोगों में हिल मिल जाने की कला ही रह गई है। जिनके अंगपर वस्त्र नहीं हैं अथवा जो मैले कुचैले हैं उन्हें बिना मंजूरी लिये केवल अपने हंसते हुए चेहरे के बलपर श्रीमंती के उपकरणों का उपयोग करने का हक आजकल नहीं रह गया है। हम इन दिनों अपनी इमारतों और सजावटों में जिनका अनुकरण करने लगे हैं उनमें भी समाज है और ऊंचे दरजे की महमानदारी की पद्धति है, परंतु हमारे में बडा दोष यह होगया है कि जो हमारे नजदीकी साधन थे उन्हें तो छोड दिया और पाश्चात्य पद्धति के अनुसार सामाजिक बंधन तैयार करने में लग गये जिसके साधन हमारे पास हैं नहीं। परिणाम यह हुआ कि हमारा जीवन

आनंद शून्य होगया। आजकल भी काम धंदे के सबब से अथवा राष्ट्रीय या सामाजिक बातों के विचार के लिये हम एकत्रित होते हैं परंतु एक दूसरे से केवल मिलने के उद्देश्य से हम कभी एकत्रित नहीं होते। अपने देश बंधुओं के प्रेम से प्रेरित होकर उन्हें एकत्रित करन के प्रसंग हमने बंद कर दिये हैं। इस सामाजिक बुराई की अपेक्षा मुझे कोई दूसरी बात बुरी नहीं मालूम होती। जिनके ठेठ अन्तःकरण से निकलने वाला हास्य हमारी गृह चिन्ता के भार को हलका करता था, उस का स्मरण आते ही यही बात ध्यान में आती है कि वे मनुष्य किसी भिन्न जगत से आये होंगे।

प्रकरण उन्नीसवां

मेरे साहित्यिक साथी।

मुझे बाल्यावस्था में एक मित्र प्राप्त हुए थे जिन की मुझे अपनी वाङ्मय–प्रगति के कार्य में बहु मूल्य सहायता मिली। इनका नाम था 'अक्षय चौधरी'। यह मेरे चौथे भाई के समवयस्क साथी थे। दोनों एक ही कक्षा में पढते थे। ये इंग्लिश भाषा और साहित्य के एम. ए. थे। इन्होंने इंग्लिश साहित्य में जितनी प्रवीणता प्राप्त की थी उतनाही उसपर इन का प्रेम भी था। और दूसरी ओर देखा जाय तो बंगला के प्राचीन ग्रंथकार और वैष्णवी कवियों पर भी

उनका उतना ही प्रेम था। उन्हें ऐसे सैकडों बंगला पद याद थे, जिन के कर्ताओं के नाम उपलब्ध नहीं हैं। न वे राग और ताल को देखते, न परिणाम को और न इसकी पर्वाह ही करते कि श्रोता लोग क्या कह रहे हैं। श्रोताओं के मना करने पर भी वे आवाज चढा चढा कर गाया करते थे। अपने गानेकी आपही ताल लगाने में उन्हें कोई भी बात परावृत्त नहीं कर सकती थी। श्रोताओं के मन में उत्साह पैदा करने के लिये वे पास में रखी हुई टेबिल या पुस्तक को ही अपना तबला बना लेते थे।

तुच्छ अथवा श्रेष्ट किसी भी श्रेणी की वस्तु से सुख प्राप्त कर लेने का निग्रह रखने की विलक्षण सामर्थ्य वाले जो लोग होते हैं उनमेंसे अक्षय बाबू भी एक थे। वे किसी बात की भलाई की स्तुति करने में जितने उदार थे उतने ही उसका उपयोग कर लेने में तत्पर भी थे। बहुत से पद और प्रेमल काव्य शीघ्रता से रचने की विलक्षण हथोटी उन्हें प्राप्त हुई थी। परंतु कवि होने का उन्हें बिलकुल ही अभिमान नहीं था। पेंसिल से लिखे हुए कागजों के टुकडों के ढेर के ढेर इधर उधर पडे रहते थे जिनकी ओर वे फिरकर देखते भी नहीं थे। उन की शक्ति जितनी विस्तृत थी उतना ही वे उसके प्रति उदासीन भी थे।

उन की कविताओं में से जब एक कविता वंग दर्शन में प्रकाशित हुई तो पाठकों को वे अधिक प्रिय हुए। मैंने

ऐसे बहुत से लोगों को उन के पद गाते हुए देखा है जिन्हें पदों के कर्ता का बिलकुल ही परिचय नहीं था।

विद्वत्ता की अपेक्षा साहित्य से अधिक आनंद प्राप्त करने का गुण बहुत थोडे मनुष्यों में होता है। अक्षय बाबू के उत्साह पूर्ण सामर्थ्य के कारण कविता का आस्वाद लेने और साहित्य का मर्म जानने की शक्ति मुझे प्राप्त हुई। वे जिस तरह साहित्य–समालोचना के कार्य में उदार थे उसी तरह स्नेह संबध में भी उदार थे। अपरिचित व्यक्तियों में उन की दशा पानी में से निकाली हुई मछली के समान हो जातीं थी। और परिचित व्यक्ति, फिर चाहे ज्ञान और वय का कितना ही अंतर क्यों न हो, उन्हें समान प्रतीत होते थे। हम बालकों में वे भी बालक बन जाते। ज्योंही सायंकाल के समय वे हमारे वृद्ध पुरुषों की मंडली में से निकलते त्योंही उन का कोट पकडकर मैं अपने पढने की जगह पर ले जाता। वे वहांपर टेबिल पर बैठ जाते और उत्साह पूर्वक हमारे साथ व्यवहार कर हमारी बाल समाज के प्राण बन जाते। ऐसे अवसरों पर कई वार मैंने उन्हें बडे आनंद से इंग्लिश कविता बोलते हुए देखा है। कभी २ हम उन से मार्मिक वाद विवाद भी करने लगते। और कभी कभी अपने लिखे हुए लेखों को पढकर सुनाते। इसके बदले में विना चूके वे मेरी अपार स्तुति करते और पारितोषक देते।

मुझे साहित्य और मनोभावना के संबंध में उचित रास्ते से लगाने वाले व्यक्तियों में से मेरा चौथा भाई ज्योतिरिन्द्र मुख्य था। वह स्वयं भी धुनका (सनकी) आदमी था और दूसरों में भी धुन पैदा करना चाहता था। बौद्धिक और भावात्मक विषयों पर वाद विवाद करके अपने साथ विशेष परिचय करने के कार्य में वह अवस्था का अंतर बाधक नहीं बनने देता था। उसने स्वातंत्र्य की जो यह उदार देनगी दी वह दूसरा नहीं दे सकता था। इस संबंध में बहुतों ने उसे दोष भी दिया। इसके साथ मैत्री करने के कारण, पीछे रखने के लिये बाध्य करने वाला डरपोंक पन झाड फेंकना मुझे शक्य हुआ। अत्यंत तीव्र गरमी के बाद जिस प्रकार वर्षा की आवश्यकता होती है उसी प्रकार बाल्यावस्थामें जकडे हुए आत्माको स्वातंत्र्य की आवश्यकता होती है। इस तरह से यदि बेडियां नहीं टूटी होतीं तो मैं जन्म भर के लिये पंगु होगया होता। स्वतंत्रता देना अस्वकिार करते समय सदा उसके दुरुपयोग की संभावना का कारण बतलाने में अधिकारी लोग आगे पीछे नहीं देखते। परंतु इस दुरुपयोग की संभावना के अभाव में स्वतंत्रता को वास्तविक स्वतंत्रता कभी प्राप्त नहीं होती। कोई वस्तु जब योग्य रीति से बापरना सिखलाना हो तो उसका एक ही मार्ग है, वह है उसका दुरुपयोग करना। कम से कम मेरे संबंध में तो यही कहा जा सकता है कि मुझे मिली हुई स्वतंत्रता का जो कुछ दुरुपयोग हुआ

उसी दुरुपयोग ने मुझे पार होने के मार्ग से लगाया। मेरे कान पकड़कर अथवा मेरे मनपर दवाव डालकर जो काम करने के लिये लोगों ने मुझे वाध्य किया उन कामों को मैं कभी ठीक तौर पर नहीं कर सका। जब जब मुझे परतंत्र रखा तब तब सिवाय दुःख के मेरे अनुभव में और कुछ नहीं आया।

आत्म–ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग में ज्योतिरिंद्र मुझे उदार मन से संचार करने देता था। और इसी समय से प्रायः पुष्प उत्पन्न करने की तैयारी मेरी मनःसृष्टि की होगई। इस आत्म ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग का जो मुझे अनुभव मिला उसने मुझे यही सिखाया कि अच्छाई के लिये किये गये महान प्रयत्नों की अपेक्षा साक्षात बुराई से भी डरने की जरूरत नहीं है। राजनैतिक अथवा नैतिक अपराधों को दंड देने वाली पुलिस का भय, लाभदायक होते हुवे भी, मुझे भय ही मालूम होता है। आत्म-ज्ञान प्राप्त करते समय स्वावलंबन न किया जाय तो जो गुलामी प्राप्त होती है वह एक प्रकार की दुष्टता ही है। मनुष्य प्राणी इस गुलामी की प्रायः वलि हो जाया करते हैं।

एक बार मेरा भाई 'नवीन' स्वर–लिपि तैयार करने में कितने ही दिनों तक संलग्न रहा। उसके पिआनो पर बैठते ही उसकी चलने वाली उंगलियों के द्वारा मधुर आलाप की वर्षा

होने लगती थी। उसकी एक ओर अक्षय बाबू और दूसरी ओर मैं बैठता था। पियानों में से स्वरों के निकलते ही हम लोग उनके अनुरूप शब्द ढूंढने में लग जाते, जिससे कि स्वरों के ध्यान में रहने के लिये सहायता मिले। इस प्रकार पद्य रचना का शिष्यत्व मैंने ग्रहण किया।

जिस समय हम जरा बडे होने लगे उस समय हमारे कुटुम्ब में संगीत शास्त्र की प्रगति शीघ्रता से होने लगी थी। इस कारण बिना प्रयत्न के ही मेरे सर्वांग में उसके भिद जाने का मुझे लाभ हुआ। परन्तु साथ में उससे एक हानि भी हुई, वह यह कि मुझे संगीत शास्त्र का क्रम पूर्वक प्राप्त होने वाला शुद्ध ज्ञान न मिल सका।

हिमालय से लौटने पर क्रम क्रम से मुझे अधिकाधिक स्वतंत्रता प्राप्त होती गई। नौकरों का शासन दूर होगया। और मैंने अनेक युक्ति प्रयुक्तियों के द्वारा पाठशाला के जीवन की शृंखला तोडने की भी व्यवस्था करडाली। घर पर सिखाने वाले शिक्षकों को भी अब अधिक शासन करने का मैंने अवसर नहीं दिया। 'कुमार संभव' पढाने के बाद ज्ञान बाबू ने ज्यों त्यों करके एक दो पुस्तकें और पढाई। फिर वे भी वकालत पढने के लिये चलदिये। उनके बाद ब्रज बाबू आये। इन्होंने पहिले ही दिन मुझे 'विकार आफ् वेक फील्ड' नामक पुस्तक का अनुवाद करने के कार्य में लगाया। जब उन्होंने

देखा कि मैं उक्त पुस्तक से घबडाता नहीं हूं तब उन्हें अधिक उत्साह हुआ, और वे मेरे शिक्षण की प्रगति करने की अधिक व्यवस्थित तजवीज करने लगे। यह देखकर मैं उन्हें भी टालने लगा।

मैं ऊपर कह ही आया हूं कि मेरे बुजुर्गों ने मेरी आशा छोड दीथी। मेरे भावी जीवन की कर्तृत्व शक्ति के सम्बन्ध में उन्हें और मुझे कुछ विशेष आशा नहीं थी। अपने पास की कोरी पुस्तक येन केन प्रकारेण लिखने के लिये मैं स्वतन्त्र हूं, ऐसा में समझने लगा। परन्तु वह पुस्तक मेरी कल्पना की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ लेखों से नहीं भरी गई। मेरे मन में गरम गरम भाफ के सिवाय और था भी क्या ?। इस भाफ के द्वारा बने हुए बुदबुदे मेरी आलस्य पूर्ण कल्पना के आस पास उद्देश और अर्थ रहित होकर चक्कर मारा करते थे। उनके द्वारा कोई आकृति निर्माण नहीं होती थी। बुदबुदे उठते और फूट कर फेन बन जाते थे। मेरे कवित्व में यदि कुछ होता भी तो वह मेरा न होकर इतर कवियों के काव्य से उधारा लिया हुआ भाग ही होता था। उसमें यदि मेरा कुछ होता भी तो केवल मेरे मन की छट पटाहट अथवा मन को क्षुब्ध करने वाला दबाव। मनः शक्ति की समतोल अवस्था का विकाश होने के पहिले ही जहां हलचल प्रारंभ हो जाती है वहां निश्चयतः अंधकार ही रहता है।

मेरी भोजाई (चौथे भाई की स्त्री) को साहित्य से बडा प्रेम था। वह केवल समय व्यतीत करने के लिये ही नहीं पढा करती थी, किन्तु जो बंगला पुस्तक पढती उसे मन में पचाती भी जाती थी। साहित्य सेवा के कार्य में उसका मेरा साहचर्य था। "स्वप्न प्रयाण" नामक पुस्तक के सम्बन्ध में उसका बहुत ऊंचा मत था। मेरा भी उस पुस्तक पर बहुत प्रेम था। उस पुस्तक के जन्म काल में ही मेरी वृद्धिगत अवस्था को उसका स्वाद चखने का अवसर मिला था। और मेरे अन्तः करण के तन्तुओं ने उस पुस्तक की उत्तमोत्तम पुष्प-कलिकाओं को गूंथ लिया था, इसलिये उसपर मेरा प्रेम और भी अधिक होगया था। उसके (स्वप्न प्रयाण के) समान लिखना मेरी शक्ति के बाहिर था, इसलिये सुदैव से ऐसा प्रयत्न करने का मुझे विचार तक पैदा नहीं हुआ।

"स्वप्नप्रयाण" की तुलना किसी ऐसे रूपकातिशयोक्ति-पूर्ण भव्य प्रासाद से की जासकती है जिसमें असंख्य दालान, कमरे, छज्जे, वगैरह हों और जो आश्चर्य जनक तथा सुंदर मूर्तियों चित्रों आदि से खूब भरा हुआ हो। जिसके चारों ओर बगीचा हो, जिसमें स्थान २ पर लताकुंज, फवारे, प्रेमकथा के लिये गुफायें आदि सामग्री हो। यह ग्रंथ केवल काव्यमय विचारों और कवि कल्पनाओं से ही भरा हुआ नहीं है, प्रत्युत इस की सुंदर भाषा—शैली और नानाविध शब्द—रचना आश्चर्य जनक है। सब तरह से पूर्णत्व प्राप्त

और चमत्कृति जनक इस रमणीय काव्य को जन्म देने वाली शक्ति कोई साधारण बात नहीं है। शायद इसी लिये इसकी नकल करने की कल्पना मुझे पैदा नहीं हुई।

इन्हीं दिनों श्री बिहारीलाल चक्रवर्ति की "शारद मंगल" नामक पद्य माला "आर्य दर्शन" में प्रकाशित होती थी। इस के प्रेमपूर्ण गीतों ने मेरी भोजाई का मन बहुत ही मोहित कर लिया था। बहुत से गीत तो उसने जुबांनी याद कर लिये थे। वह इन गीतों के रचयिता कवि को निमंत्रण देकर बुलाया करती थी। और इन के बैठने के लिये अपने हाथ से बेलबूंटे काढकर एक गादी तैयार की थी। इसी लिये मुझे इनसे परिचय प्राप्त करने का अपने आप अवसर मिल गया। मेरे पर भी उन का प्रेम जम गया। मैं किसी भी समय उन के घर पर चला जाता था। शरीर के समान उन का अन्तःकरण भी भव्य था। काव्यरूप काम देह के समान कवि प्रतिभा का उज्ज्वल तेजोमंडल उन के चारों और फैला हुआ रहता था। और यही उन की वास्तविक प्रतिभा मूर्ति है ऐसा मालूम होता था। वे काव्यानंद से सदा भरे हुए रहते थे। जब जब मैं उनके पास जाता मुझे भी काव्यानंद का आस्वाद मिलता था। दुपहर के समय कडक गर्मी में तीसरे मंजिल पर एक छोटी सी कोठरी में चूना गच्ची की कोमल जमीन पर पड कर कविता लिखते मैंने कई वार उन्हें देखा है।

यद्यपि उस समय मैं एक छोटा बालक ही था तो भी वे मेरा ऐसे अकृत्रिम भाव से स्वागत करते थे कि मुझे उनके पास जाने में कभी संकोच नहीं होता था। ईश्वरीय प्रेरणा में तल्लीन होकर और अपने पास कौन है और क्या हो रहा है इस की ओर न देखकर एक समाधिस्थ के समान वे अपनी कविताएं अथवा पद सुनाते थे। यद्यपि उन्हें मधुर गायन की कोई देनगी प्रकृति ने नहीं दी थी तो भी वे बिलकुल बेसुरा भी नहीं गाते थे। और उन के गायन से कोई भी गायक यह कल्पना कर सकता था कि उन्हें कौन सा आलाप निकालना है। जब वे आंखें मींचकर आवाज ऊंचा चढाते थे तब उनकी ति की कमजोरी छुप जाती थी। मुझे अभी भी यह भान होजाता है कि उन्होंने मुझे जैसे गाने सुनाये थे वैसे ही मैं अबभी सुन रहा हूं। कभी २ मैं भी उन के गाने जमाकर उन्हें गाकर सुनाया करता था।

वे वाल्मीकि और कालिदास के भक्त थे। मुझे स्मरण है कि एक वार उन्होंने कालिदास के काव्यों में से हिमालय का वर्णन बडे जोर से पढा और इसके बाद बोले कि:—

"अस्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधि राजः" इस श्लोकार्ध में कालिदास ने जो 'आ' इस दीर्घ स्वर का मुक्त हस्त से प्रयोग किया है वह यों ही नहीं किया, किंतु 'देवतात्मा' से 'नगाधिराज' तक कविने

जान बूझकर यह दीर्घ स्वर हिमालय का दीर्घत्व प्रगट करने के लिये प्रयुक्त किया है।

इस समय मेरी मुख्य महत्वाकांक्षा केवल बिहारी बाबू के समान कवि होने की ही थी। और मुझे यह स्थिति प्राप्त भी हो जाती कि मैं अपने आप समझने लगता कि मैं बिहारी बाबू के समान कविता कर सकता हूं। परंतु मेरी भोजाई जो उन की भक्त थी, इसमें आडे आती थी। वह बार बार मुझे कहती कि "मंदः कवि यशः प्रार्थी गमिष्युत्युपहास्यताम्" अर्थात् योग्यता न होते हुए कीर्ति प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा रखने वाले कवि का उपहास होता है। वह शायद यह बात अच्छी तरह जानती थी कि यदि कभी महत्वाकांक्षा के साथ वृथाभिमान ने शिर उठाया तो फिर उस का दाबना कठिन हो जायगा।

अतः वह मेरे गायन अथवा काव्य की सहसा प्रशंसा नहीं किया करती थी। इतना ही नहीं, वह दूसरे के गायन की प्रशंसा कर मेरी त्रुटि दिखाने का अवसर कभी योंही नहीं जानें देती थी, उस का तो वह उपयोग कर ही लेती थी। इस का परिणाम यह हुआ कि मुझे अपनी आवाज में दोष है, इस का पूरी तरह विश्वास होगया। और काव्य रचना के सामर्थ्य में भी संदेह होने लगा। परंतु यही एक उद्योग था जिस के कारण मैं बडप्पन प्राप्त कर सकता था। अतः दूसरों के निर्णय

पर मैं सब आशा छोड देने के लिये भी तैयार न था। इस के सिवाय मेरे अन्तःकरण की प्रेरणा इतने जोर की थी कि काव्य रचना के साहस से मुझे परावृत्त करना अशक्य था।

प्रकरण बीसवां.

लेख प्रसिद्धि।

इस समय तक मेरे लेख मंडली के बाहर नहीं गये थे। इन्हीं दिनों "ज्ञानांकुर" नामक मासिक पत्र निकला और उसके नामानुकूल गर्भावस्थित एक लेखक भी उसे मिला। यह पत्र बिना भेदाभेद किये मेरी सब कविता प्रसिद्ध करने लगा। इस समय तक मेरे मन के एक कोने में ऐसी भीति छिपी हुई पडी है कि जिस समय मेरा न्याय करने का अवसर आयगा उस दिन कोई साहित्यिक पुलिस अधिकारी निजी बातों के हक की ओर ध्यान न देकर विस्मृति के अंधकार में पडे हुए साहित्य के अन्तःपुर में जांच पडताल शुरू करेगा; और उसमें से मेरी सब कविता ढूंढ कर निर्दय जनता के सामने रख देगा।

मेरा पहिला गद्य लेख भी 'ज्ञानांकुर' में ही प्रकाशित हुआ। वह समालोचनात्मक था और उसमें थोडी ऐतिहासिक चर्चा भी की गई थीं।

एक 'भुवन मोहिनी प्रतिभा' नामक काव्य पुस्तक प्रकाशित हुई थी। इसकी अक्षयबाबू ने 'साधारणी' में और भूदेवबाबू ने एज्युकेशन गजट में खूब प्रशंसा की थी। तथा इस के रचियता नूतन कवि का स्वागत किया था। मेरा एक मित्र था। अवस्थामें वह मुझ से बडा भी था। वह मेरे पास बारंबार आता और 'भुवन मोहिनी' के द्वारा उसके पास भेजे हुए पत्रों को वह मुझे दिखलाता था। यह भी 'भुवन मोहिनी प्रतिभा' नामक पुस्तक पर मोहित होने वालों में से एक था। और वह इस पुस्तक की प्रसिद्धि-प्राप्त कर्त्री के पास पुस्तकें व कीमती कपडों की भेंट भेजता रहता था।

इस पुस्तक की कुछ कविताओं की भाषा इतनी अनियंत्रित थी कि मुझे यह विचार ही सहन नहीं होता था कि इस प्रकार लिखने वाली कोई स्त्री हो सकती है। और फिर मैंने अपने स्नेही के पास आये हुए जो पत्र देखे उनपर से मेरा उसके स्त्रीत्व के संबंध में विश्वास और भी कम हो गया। परंतु मेरे स्नेही के विश्वास में मेरे अविश्वास से कुछ धक्का नहीं लगा। और उसने अपने आराध्य देवता की पूजा उसी प्रकार चालू रखी।

अब मैंने भुवन मोहिनी प्रतिभा पर समालोचना लिखना प्रारंभ किया। मैंने भी अपनी कलम को स्वच्छंद

छोड दिया। इस लेख में रसात्मक काव्य और इतर काव्य के विशेष लक्षणों का व्युत्पन्न रीति से ऊहापोह किया। इन लेखों में मेरे अनुकूल यही बात थी कि वे बिना संकोच के छपकर प्रकाशित हुए थे। और वे इस तरह से लिखे गये थे कि उनपर से लेखक के ज्ञान का पता नहीं लग सकता था। एक दिन मेरा उक्त स्नेही गुस्से से भरा हुआ मेरे पास आया। और मुझ से कहने लगा कि इन लेखों का प्रत्युतर कोई विद्वान ग्रेज्युएट लिख रहा है। ग्रेज्युएट प्रत्युत्तर लिख रहा है, यह सुनकर मैं अवाक् होगया। और बालपन में जिस तरह 'सत्य' ने पुलिस पुलिस कहकर मुझे डराया था उसी तरह इस समय भी मेरी दशा हुई। मुझे ऐसा भास होने लगा मानो ग्रेज्युएट ने अपने पक्ष समर्थन के लिये अधिकारी मनुष्यों के जो उद्धरण दिये हैं उन की मार से, मेरे लेखों में सूक्ष्म भेद के पायों पर जो मुद्दों का जयस्तंभ मैंने खडा किया है, वह मेरी दृष्टि के आगे गिरा हुआ पडा है और पाठकों के आगे मुझे अपना मुंह दिखाने का मार्ग कुंठित होगया है। हायरे समालोचक! मैंने कितने दिनों तक दारुण संशय के साथ तेरी कैसी प्रतीक्षा की ?। न मालूम कौन से अशुभ ग्रह में तूने लिखना प्रारंभ किया था, जो आज तक तेरे लेख सामने नहीं आ पाये।

प्रकरण इकवीसवां

भानुसिंह।

मैं एक बार ऊपर बतला चुका हूं कि मैं बाबू अक्षय सरकार और सरोदमित्र द्वारा प्रकाशित प्राचीन काव्यमाला का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने वाला विद्यार्थी था। उस पर से मुझे मालूम पडा कि मैथिली की भाषा बहुत कुछ मिश्रित है अतः उसका समझना एक कठिन काम है। अतः उसका अर्थ समझने के लिये मैं खूब कसकर प्रयत्न करता था। बिल के भीतर छिपे हुए शिकार की ओर अथवा पृथ्वी के धूलिकामय आच्छादन के नीचे छिपे हुए रहस्य की ओर मैं जिस उत्कट जिज्ञासा से देखता था उसी जिज्ञासा से इस काव्य को भी देखने लगा। इस काव्यरत्नाकर के गूढ अंधकार में मैं ज्यों २ भीतर जाता त्यों २ कुछ अप्रसिद्ध काव्य रत्नों को प्रकाश में लाने की मेरी आशा और उस के कारण उत्पन्न उत्साह बढता ही जाता था।

इस काव्य के अभ्यास में लगे हुए रहने की अवस्था में ही एक कल्पना मेरे शिर में घूमने लगी कि अपने लेख भी इसी प्रकार के गूढ वेष्टनों में लपेटे हुए रहना चाहिये। अंग्रेज बाल–कवि चाटरटन (Chatarton.) का हाल अक्षय चौधरी से मैंने सुन रखा था। उसकी कविता के

संबध में मुझे कोई कल्पना नहीं थी और शायद अक्षय बाबू को भी न होगी। यह भी संभव है कि यदि उस की कविता का स्वरूप हम समझ गये होते तो उसकी निज की कथा में कुछ मजा भी न रहता। हां इतनी बात जरूर है कि मनो-विकारों में हलचल पैदा कर देने वाले उस के विशिष्ट गुणों से मेरी कल्पना शक्ति प्रज्ज्वलित हुई। सर्वमान्य ग्रन्थों का बेमालूम रीति से अनुकरण कर उक्त चाटरटन ने अनेक लोगों को चकित किया और अंत में उस अभागे तरुण ने अपने आप आत्म घात कर डाला। इसके चरित्र का आत्म-घातक हिस्सा छोडकर उसके मर्दानगी भरे साहस को भी पीछे ढकेलने के लिये मैं कमर कसकर तैयार हो गया।

एक दिन दुपहर के समय अकाश मेघाच्छादित था। दुपहर के विश्रांति के समय प्रकृति देवता ने उष्णता के ताप से इस प्रकार हमारी रक्षा की अतः मेरा अन्तःकरण कृतज्ञा से भर गया, और मुझे बडा आनंद मालूम होने लगा। मैं अपने भीतर के कमरे में विस्तरे पर उलटा पडगया और पट्टी पर मैंने मैथिली की एक कविता का अनुवाद लिख डाला। इस रूपांतर से मैं इतना प्रसन्न हुआ कि उस के बाद मुझे जो पहिले पहल मिला उसे ही मैंने वह कविता तुरंत सुना दी। कविता में एक भी शब्द ऐसा न था जिसे वह न समझ सके। अतः उसने भी शिर हिलाकर 'बहुत अच्छी—बहुत अच्छी' कह दिया।

ऊपर मैं अपने जिस मित्र का वर्णन कर आया हूं, एकदिन मैंने उस से कहा कि आदि ब्रह्म समाज की पुस्तकें ढूंढते ढूंढते मुझे फटे–पुराने कागजों पर लिखी एक पुस्तक मिली है। उस पर से भानुसिंह नामक एक प्राचीन वैष्णव कवि की कुछ कविता की मैंने नकल कर डाली है। ऐसा कहकर मैथिली कवि की कविता के अनुकरण स्वरूप मैंने जो कविता की थी वह उसे सुनाई। वह आनन्द से बेहोश होकर कहने लगा कि विद्यापति या चंडीदास भी ऐसी कविता नहीं कर सकते थे। इन्हें प्रकाशित करने के लिये अक्षयबाबू को देने के अर्थ वह मुझसे मांगने लगा। परंतु जब मैंने अपनी पुस्तक बतलाकर यह कहा कि वास्तव में विद्यापति या चंडीदास नहीं रच सकते थे, यह मेरा रचना है, तब उसका मुँह उतरगया और फिर कहने लगा कि "हां यह कविता इतनी कुछ बुरी नहीं है"।

जिन दिनों भानुसिंह के नाम से कविताएं प्रकाशित हो रही थीं, उन्हीं दिनों डॉ० निशिकांत चटर्जी जर्मनी गये हुए थे। वहां उन्होंने यूरोपियन रसात्मक काव्यों की तुलना करते हुए भारतीय रसात्मक काव्यों के समर्थन में एक निबंध लिखा। इस निबंध में किसी भी अर्वाचीन कवि की दृष्टि न पहुँच सके इतने सम्मान का स्थान भानुसिंह को प्राचीन कवि कहकर दिया गया था। और आश्चर्य यह कि इसी निबंध पर निशिकांतबाबू को पी. एच. डी., की सम्माननीय पदवी मिली।

कवि भानुसिंह कोई ही क्यों न हो परंतु मेरी बुद्धिके प्रगल्भ होने पर यदि वह कविता मेरे हाथों में आई होती तो मुझे विश्वास है कि उसके कर्ता के संबंध में मैं कभी नहीं फँसता। भाषा के संबंध में मेरी जांच पडताल में वह ठीक उतरी होती। क्योंकि वह प्राचीन कवियों की भाषा के समान थी। प्राचीन कवियों की भाषा उनकी मातृ भाषा न होकर भिन्न २ कवियों की लेखनी से परिवर्तन होने वाली अस्वाभाविक भाषा थी। हां उनकी कविता के भावों में अस्वाभाविकता कुछ भी नहीं थी। और यदि काव्य-नाद पर से भानुसिंह की कविता की परीक्षा की होती तो उसकी हीनता तुरंत ही दृष्टि में आये बिना नहीं रहती। क्योंकि उसमें से हमारे प्राचीन वाद्यों की मोहक आवाज न निकल कर अर्वाचीन परकीय नलिका की क्षुद्र ध्वनि निकलती थी।

प्रकरण बावीसवां

स्वदेशाभिमान।

ऊपरा ऊपरी देखने से हमारे कुटुम्ब में बहुत सी विदेशी रीति रिवाज प्रचलित दिखलाई पडेंगे। परंतु अंतरंग दृष्टि से देखा जाय तो उसमें राष्ट्राभिमान की ज्योति, मंद स्वरूप में कभी दिखलाई नहीं पडेगी। स्वदेशके प्रति मेरे पिता

में जो अकृत्रिम आदर था वह उनके जीवन में अनेक क्रांतियां होने पर भी कम नहीं हुआ और वही आदर उनके पुत्र पौत्रों में भी स्वदेशाभिमान के रूप में अवतरित हुआ है। मैं जिस समय के संबंध में लिख रहा हूं, उस समय स्वदेश प्रीति को कोई विशेष महत्व प्राप्त न था। उस समय देश के सुशिक्षित लोगों ने अपनी जन्मभूमि की भाषा और भावना का बहिष्कार कर रखा था। परंतु ऐसी अवस्था में भी मेरे ज्येष्ठ भ्राता ने बँगला साहित्य की वृद्धि के लिये सतत प्रयत्न किया। मुझे याद है कि एकबार हमारे किसी नवीन संबंधी के यहां से आये हुए अंग्रेजी पत्र को पिताजी ने ज्यों का त्यों वापिस कर दिया था।

हमारे घराने की सहायता से स्थापित 'हिंदू मेला' नामक एक वार्षिक जत्रा भरा करती थी। इसके व्यवस्थापक बाबू नव गोपाल मित्र बनाये गये थे। संभवतः बडे अभिमान सेभारतबर्ष को अपनी मातृभूमि प्रकट करने का यही पहला प्रयत्न होगा। इन्हीं दिनों मेरे दूसरे ज्येष्ठ भ्राता ने 'भारतेरजय' नामक लोकप्रिय राष्ट्र-गीत की रचना की। इस मेले के मुख्य उद्देश जन्म भूमि की धवलकीर्ति से भरे हुए पद गाने, स्वदेश प्रीतिसे लवालव भरी हुई कविता पढने, देशी उद्योग धंदे और हुनर की प्रदर्शनी करने तथा राष्ट्रीय बुद्धिमत्ता और कौशल्य को उत्तेजन देना, यह थे।

लार्ड कर्जने के दिल्ली दरबार के अवसर पर मैंने एक गद्य लेख लिखा। यही लेख लार्ड लिटन के समय पद्य में लिखा था। उस समय की अंग्रेज सरकार रशिया से भले ही डरती हो परंतु वह एक चौदह बर्ष के बालक से थोडे ही डरती थी। इस लिये उस कविता में मैंने अपने वय के अनुसार कितने ही तीव्र विचार क्यों न प्रगट किये हों मगर उसका प्रभाव 'कमांडर इन चीफ' से लेकर पुलिस कमिश्नर पर्यंत किसी भी अधिकारी पर दिखलाई नहीं पडा। और न लंडन टाइम्सने ही, साम्राज्य रक्षकों की इस उदासीनता पर कोई अश्रुमय पत्र-व्यवहार प्रकाशित किया। मैंने हिन्दू मेले में अपनी यह कविता एक वृक्ष के नीचे पढी। उस समय श्रोताओं में नवीनसेन नामक एक कवि भी थे। उन्होंने ही मेरे बडे होने पर इस घटना की मुझे याद दिलाई थी।

मेरा चौथा भाई ज्योतिरिन्द्र एक राजकीय संस्था का जनक था। इस संस्था के अध्यक्ष राजनारायन बोस थे। कलकत्ते की एक आडी तिरछी गली के एक टूटे फूटे मकान में इस सभा की बैठकें हुआ करती थीं। इसके कार्य-क्रम के सम्बन्ध में लोग सर्वथा अजान थे। इसके विचार गुप्त रीति से हुआ करते थे। इसी कारण इस सभा के संबंध में गूढता और डर भग गया था। वास्तव में देखा जाय तो हमारे आचार-विचार में सरकार और जनता के भय का कारण कुछ भी

नहीं था। दुपहर का समय हम कहां व्यतीत करते हैं, इसकी कल्पना हमारे घर के दूसरे लोगों को कुछ भी नहीं थी। सभास्थान के आगे वाले दरवाजे पर सदा ताला लगा रहता था। सभा के कमरे में आने के चिन्ह स्वरूप एक 'वेद मंत्र' नियत था। और हम सब आपस में धीरे २ संभाषण करते थे। हमको भयभीत करने के लिये इतनी ही बातें काफी थीं। दूसरी बातों की जरूरत ही न थी। यद्यपि मैं बालक था तो भी इस संस्था का सभासद होगया था। हमारे आस पास एक प्रकार की उन्माद वायु का ऐसा कुछ वातावरण फैलगया था कि हम उत्साह रूपी पंखों पर बैठे हुए उडते दिखाई पडते थे। हमें संकोच, अपने सामर्थ्य पर अविश्वास या भय का नाम भी मानो मालूम न था। केवल उत्साह की उष्णता में तपते रहना ही हमारा एक मात्र साध्य था।

शौर्य में ही भले ही कभी कभी कुछ दोष उत्पन्न होजाते हों परंतु शौर्य के संबंध में प्रतीत होने वाला आदर मनुष्य के अन्तःकरण के अंतर तम प्रदेश में छुपा रहता है, इसमें संदेह नहीं। सब देशों के वाङ्मय में यह दिखलाई पडेगा कि इस आदर को बनाये रखने के लिये अविश्रांत प्रयत्न किये जा रहे हैं, और विशिष्ट लोक समाज किसी भी विशेष परिस्थिति में इन उत्साह जनक आघातों की अविश्रांत मार

को किसी भी तरह टाल नहीं सकता। हमको भी अपनी कल्पनाओं के घोडे दौडा कर, इकठ्ठे बैठकर, बडी २ बातें बनाकर और खूब तेजस्वी गाने गाकर इन आघातों का उत्तर देना पडता और इस रीति से अपना संतोष करना पडता था।

मनुष्य जाति के शरीर में भरी हुई और अत्यन्त प्रिय शक्ति को बाहिर प्रगट न होने देकर उसके निकलने के सर्व द्वारों को बंद करने से हीन श्रेणी के उद्योगों के अनुकूल अस्वाभाविक परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, इसमें संदेह नहीं। साम्राज्य की व्यापक राज्य व्यवस्था में केवल क्लर्की का रास्ता खुला रखने से ही काम न चलेगा। यदि साहस पूर्ण उत्तर दायित्व के काम शिर पर लेने का अवसर नहीं मिले तो मनुष्य का आत्मा बंधन-मुक्त होने के लिये छटपटाने लगता है। और इस के लिये वह कंकरीले पथरीले एवं अविचारपूर्ण साधनों के अवलम्बन की इच्छा करने लगता है। मुझे विश्वास है कि सरकार ने यदि उस समय संशय ग्रस्त होकर कोई भय दायक मार्ग ग्रहण किया होता तो इस मंडल के तरुण सभासद अपने कार्य का पर्य-वसान जो सुखमय करना चाहते थे वह दुःख रूप हुआ होता। इस मंडल के खेलों का अब अंत होगया है, परंतु उस से फोर्ट विलियम की एक भी ईंट हिलने नहीं पाई है। इस मंडल के कार्यों का स्मरण होने पर आज भी हमें हंसी आये बिना नहीं रहती।

मेरे भाई ज्योतिरिंद्रने भारत वर्ष के लिये एक 'राष्ट्रीय पोशाक' का अविष्कार किया था और उसके नमूने उक्त मंडल के पास भेजे थे। उस का कहना था कि धोती ढीली ढाली है और पायजमा विदेशी। उसने इन दोनों को मिला-कर एक तीसरा ही ढंग निकाला। जिससे धोती की तो बे इज्जती ही, हुई पर पायजामे का कुछ भी सुधार न हो सका। उसने पायजामे के आगे पीछे भी धोती की कृत्रिम पटली लगाकर पायजामे को सुंदर बनाने का प्रयत्न किया। उधर पगडी और टोपी का मिश्रण करके उसने एक भयंकर शिरस्त्राण की रचना की। हमारे मंडल के उत्साही सभासदों ने भी उसकी सराहना करने में जरा भी आगा पीछा नहीं किया। मेरा भाई बिना किसी संकोच के दिन दहाडे मित्र परिजन नोकर-चाकर सब के सामने उनके आंखें बिचकाते रहने पर भी यह पोशाक पहिनने लगा। साधारण प्रतों के मनुष्य ऐसा धैर्य नहीं दिखा सकते। अपने देश के लिये प्राण देने वाले बहुत से भारत वासी शायद निकलेंगे, पर मेरा विश्वास है कि अपने राष्ट्र के कल्याण के लिये एक नवीन तरह की राष्ट्रीय पोशाक पहिन कर आम रास्ते पर निकलने का साहस बहुत थोडे लोग कर सकेंगे।

मेरा भाई हर रविवार को अपनी मंडली के साथ शिकार को जाया करता था। इस मंडली में कुछ अनिमंत्रित लोग भी शामिल हो जाते थे, जिनमें से बहुतों को हम

पहिचान ते भी न थे। हमारी इस मंडली में एक सुनार एक लुहार, और दूसरी समाजों के सब तरह के लोग रहते थे। इस शिकार के दौरे में रक्तपात कभीं नहीं होता था। कम से कम मैंने तो रक्तपात होते कभी नहीं देखा। इस मंडली के कार्य क्रम में विचित्रता और मजा बहुत रहती थी। किसी को बिना मारे या बिना घायल किये शिकार कैसी ? परंतु हमारी शिकार तो ऐसी ही होती थी। मारने या घायल करने का महत्व हमारी इस मंडली में नहीं माना जाता था। बिलकुल सुबह शिकार पर जाने के कारण मेरी भोजाई हमारे साथ पूडियां व खाने के दूसरे पदार्थ खूब बांध दिया करती थी। शिकार में मिलने वाली जय पराजय से इन वस्तुओं का कोई संबंध नहीं था। अतः हमें भूंखे पेट कभी नहीं आना पडता था।

माणिक टोला के आस पास बगीचों या उद्यान गृहों की कमी नहीं है। शिकार खत्म होनेपर हम किसी एक उद्यान गृहमें चले जाते और जातपांत का भेद किये बिना किसी एक तालाव के घाट पर बैठकर साथवाले पदार्थों पर हाथ साफ करते थे। इनमें से हम रत्तीभर भी नहीं छोडते थे। हां इस सामान को रखने के लिये जो बरतन लाते वे अवश्य बच रहते थे।

इस रक्त पिससा रहित शिकारी मंडलीमें विशेष उत्साही और सहृदय, ब्रिजबाबू थे। ये 'मेट्रो पालिटिन इन्स्टिटयूट' के व्यवस्थापक थे और कुछ दिनों तक हमारे निजी शिक्षक भी रहे थे। एक दिन बिना मालिक की परवानगी के एक बागमें हम लोग चले गये। अपने इस दोष को ढांकने के लिये उस बाग के माली से बात चीत शुरू करने की एक मजेदार कल्पना ब्रिजबाबू को सूझी। वे उससे पूछने लगेः—क्योंरे क्या काका अभी यहां आये थे। यह सुनतेही मालीने तुरंत ही उन्हें झुक कर सलाम किया और कहा कि नहीं सरकार। इनदिनों मालिक यहां नहीं आये।

ब्रिजबाबूः—अच्छा ठीक है, अरे जरा झाड पर से हरे नारियल तो तोड।

उस दिन पूरियोंपर हाथ साफ करने के बाद हमें नारियलों का सुंदर मजेदार पानी पीने को मिला।

हमारी इस मंडली में एक छोटासा जमींदार भी था। नदी किनारे इस का भी एक बगीचा था। एक दिन जाति-निर्बंध तोडकर उस जगह हमने भोजन किया। दुपहर के बाद भयंकर मेघ उमड आये। हम भी मेघ गर्जना के साथ ज़ोर जोर से पद गाने लगे। यह तो मैं नहीं कह सकता कि राजनारायण बाबू के गले से एक ही साथ सातों सुर

निकलते थे या नहीं, पर यह कहा जा सकता है कि जिस तरह संस्कृत भाषा में मूल ग्रंथ टीका टिप्पणियों के जाल में छिप जाता है उसी तरह उनकी ध्वनि निकलतेही शरीर के अंग विक्षेप में उनका गायन भी लुप्त हो जाता था। ताल को प्रकट करने के लिये उनकी गर्दन इधर से उधर हिलती थी। वर्षा ने उनकी दाढी की दुर्दशा कर डाली थी। जब बहुत रात वीत गई तब भाडे की गाडियों से हम अपने घर आये। उस समय बादल बिखर गये थे। तारे चमकने लगे थे। अंधेरा मिट रहा था और वातावरण भी निश्चल होगया था। गांवों के रास्तोंपर पशु पक्षी भी नहीं दिखलाई पडते थे। हां दोनों ओर की निःशब्द झाडी में बारूद की चिनगारी के समान जुगनूं चमक रहे थे।

आगपेटी तैयार करना और दूसरे छोटे छोटे उद्योग धंदों को उत्तेजना देना भी हमारे मंडल का उद्देश्य था। इस कार्य के लिये मंडल के प्रत्येक सभासद को अपनी आमदनी का दशवां हिस्सा देना पडता था। आगपेटी तैयार करने का तो निश्चय होगया था, पर उसके लिये लकडी मिलना कठिन था। हम यह अच्छी तरह जानते थे कि खाडू की सींकों की बुहारी योग्य हाथों में रहने पर अपना प्रखर प्रभाव दिखलाती है परंतु इसके स्पर्श से दिया की बत्ती नहीं जल सकती। ❀

❀ बंगाल में यह समझ है कि जिस स्त्री के हाथ में खड्डू की सींकों का बुहारी होती है और उसका उपयोग पति पर किया जाता है तो उसका पति सदा उसके आगे नम्र रहकर गृहकार्य करता रहता है।

बहुत से प्रयोग करने के बाद हम एक पेटी भर सलाई बना सके। इसमें न केवल हम लोगों का उत्कट देशाभिमान ही खर्च हुआ प्रत्युत जितना पैसा खर्च हुआ उससे साल भर का दिया बत्ती का खर्च भी चला होता। एक दोष इनमें और था वह यह कि इनके जलाने के लिये दूसरे दीपक की जरूरत पडती थी। जिस स्वदेशाभिमान की ज्योति से इनकी उत्पत्ति हुई थी, यदि उस ज्योति का अल्पांश भी उन्होंने ग्रहण किया होता तो आज भी वे बाजार में लाने योग्य रही होतीं।

एकबार हमें यह समाचार मिला कि कोई एक तरुण विद्यार्थी भाफ से चलने वाला हाथ-करघा तैयार करने का प्रयत्न कर रहा है। समाचार मिलते ही तत्क्षण हम उसे देखने को गये। उस करघे के प्रत्यक्ष उपयोग के संबंध में हम में से किसी को भी ज्ञान न था तोभी उसके उपयोग होने की विश्वासपूर्ण आशा में हम किसी से हटने वाले नहीं थे। यंत्रों की खरीदी के कारण उस बेचारे पर थोड़ा सा कर्ज होगया था, हमने वह चुकवा दिया। कुछ दिनों बाद ब्रिज बाबू अपने शिर पर एक मोटा सा टॉबिल लपेटे हुए आये और " देखो यह अपने करघे पर बना हुआ है " इस तरह जोर से चिल्लाते हुए हाथ ऊँचा कर प्रसन्नता की धुन में नाचने लगे। उस समय ब्रिजबाबू के बाल सफेद होने लगे

थे तोभी उनमें इस प्रकार का उत्साह खेल रहा था । अंतमें कुछ व्यवहार-चतुर लोग हमारे समाज में आ मिले । और उन्होंने अपने व्यवहार ज्ञान का फल चखाना शुरू करके हमारा यह छोटासा नंदन बन उध्वस्त कर डाला ।

जिस समय राजनारायण बाबू से मेरा पहले पहल परिचय हुआ उस समय उनकी बहुगुण-सम्पन्नता ग्रहण करने योग्य मेरी अवस्था न थी। अनेक विसदृश गुणों का उनमें मिश्रण हुआ था । उनके शिर और दाढी के बाल सफेद हो गये थे । तोभी हममें से छोटे से छोटे बालक जितने वे छोटे थे। तारुण्य को मानो अखंड बनाये रखने के लिये उनके शरीर ने शुभ्र कवच ही धारण किया हो। उनकी अगाध विद्वत्ता का उन बातों पर जरा भी परिणाम नहीं हुआ था और रहन सहन भी ज्यों की त्यों सादी थी। उनमें वृद्धावस्था का गांभीर्य, अस्वास्थ्य, सांसारिकक्लेश, विचारों का गूढत्व और विविध ज्ञान संचय काफी तादाद में था, तोभी इन बातों मे से किसी एक भी बात के कारण उनके निर्व्याज मनोहर हास्य-रस में कभी कमी नहीं हुई। इंगलिश कवि रिचर्डसन के वे अत्यंत प्रिय शिष्य थे। इंगलिश शिक्षा के वातावरण में ही उनका लालन पालन हुआ था तो भी बाल्यावस्था के प्रतिकूल संस्कारों को दूरकर बडे प्रेम और भक्ति के साथ वे बंगाली वाङ्मय के भक्त बने थे। यद्यपि वे अतिशय सौम्य वृत्ति के थे तथापि उनमें तीक्ष्णता कम न थी । और

देशाभिमान की ज्वाला ने उनमें इतनी जगह कर ली थी कि यह मालूम देता था कि मानों यह ज्वाला देश के अरिष्ट और दीन दशा को जलाकर राख में मिला देने के विचार में है। वे सुहास्य विलसित, मिष्ट स्वभावी, उत्साहपूर्ण, और आमरण तारुण्य से भरे हुए थे। उनकी ऐसी योग्यता थी कि मेरे देश बांधव इस साधुश्रेष्ठ व्यक्ति का चरित्र अपने स्मृति पटलपर खोदकर उसका सदा जयजयकार करते रहें।

प्रकरण तेवीसवां.

भारती।

मैं जिस समय के संबंधमें लिख रहा हूं, वह समय प्रायः मेरे में आनंद की लहरें उत्पन्न करनेवाला था। बिना किसी हेतु-विशेष के प्रचलित बातों के विरुद्ध जाने की प्रबल इच्छा से मैंने अनेक निद्रारहित रात्रियां इनदिनों में व्यतीत की होंगीं। पढने की जगह धुंधले प्रकाश में मैं अकेला ही बैठा बहुत देर तक पढा करता था। बहुत दूर ईसाइयों का एक चर्च था। वहां हर पन्द्रह मिनट पर घंटे बजते थे। मानों व्यतीत होने वाले प्रत्येक घंटे का नीलाम पुकारा जाता हो। उधर नीमटोला स्मशान भूमि की ओर चितपुर मार्ग से शव को लेजाने वालों की 'हरि बोलो भाई हरि बोलो' की कर्कश ध्वनि भी आकर कानपर बीच २ में टकरा जाती थी। कभी २

गर्मी की उजेली रातों में गच्ची पर रखे हुए कुंडों की छाया और चन्द्र प्रकाश में मैं एक अस्वस्थ पिशाच के समान घूमता रहता था।

इसे यदि कोई निरी कवि-कल्पना समझकर इस की उपेक्षा करेगा तो वह भूल होगी। इतनी विशाल और अतिशय प्राचीन पृथ्वी भी कभी कभी अपनी शांति और स्थिरता को छोड कर हमें विस्मित कर डालती है। जिस समय पृथ्वी तारुण्यावस्थामें थी, उसका ऊपरी आवरण बढकर उसे काठिन्य प्राप्त नहीं हुआ था, उस समय उसके गर्भ में से भी ज्वालाएँ फूटती थीं और भयानक लीलायें करते हुए उसे बडी मजा मालूम होती थी। मनुष्य की भी ऐसी ही दशा है। जब वह तारुण्य में प्रवेश करता है तब उसमें भी यही बात होती है। आयुष्य क्रम की दिशा को निश्चित करने वाली बातों को जब तक कोई स्वरूप प्राप्त नहीं हो जाता तबतक मनुष्यमें भी खलबल पैदा होना एक स्वाभाविक बात है।

इन्हीं दिनों मेरे भाई ज्योतिरिंद्र ने बडे भाई के संपादकत्व में 'भारती' नामक मासिक पत्र प्रकाशित करने का निश्चय किया। हमारे उत्साह के लिये यह एक नवीन खाद्य मिला। इस समय मेरी अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी। मेरा नाम भी संपादकों की सूचीमें रखा गया था। थोडे ही दिनों बाद मैंने अपने तारुण्य के गर्व को शोभा देनेवाली

धृष्टता से 'मेघनाद वध' की समालोचना भारतीमें लिखी। जिस तरह कच्चे आमों में खटाई होना स्वाभाविक है उसी तरह दुर्वचन और निरर्थक टीका टिप्पणियां अप्रगल्भ समालोचकों के गुण हैं। मालूम होता है कि अन्य शक्तियों के अभावमें दूसरों का उपमर्द करने वाली शक्ति अधिक तीव्र होती है। इस प्रकार मैंने उस अमर महा काव्य पर शस्त्रप्रहार कर स्वयं अमर होने का प्रयत्न किया। बिना किसी संकोच के भारतीमें लिखा हुआ यह मेरा पहिला गद्य लेख था।

भारती के प्रथम वर्ष में मैंने 'कवि कहानी' नामक एक लंबी चौडी कविता भी प्रकाशित की थी। इस समय इस कविता के लेखक ने अपने अस्पष्ट और अतिशयोक्ति प्रचुर काल्पनिक चित्रों की अपेक्षा जगत् का और किसी प्रकार का अनुभव प्राप्त नहीं किया था। अतएव यह स्वाभाविक था कि इस 'कवि कहानी' नामक कविता के नायक कवि का चित्र लेखक की वर्तमान दशा का प्रतिबिंब न होकर उसकी भावी कल्पना अथवा महत्वाकांक्षा का प्रतिबिंब हो। परंतु इसपर से यह भी नहीं कहा जा सकता कि लेखक स्वयं उस चित्र के समान होने की इच्छा रखता था। लेखक के संबंधी लोगों को जितनी उससे आशा थी उससे कहीं अधिक भडकीले रंगों में यह चित्र चितेरा गया था। इस कविता में अपने संबंध में लोगों से कहलाया गया था कि वाह! कवि हो तो ऐसा हो। विश्व प्रेम की बातें कहने में बडी सहल और

देखने में भव्य हुआ करती हैं। अतः उस कवितामें इसकी भी खूब रेल-पेल थी। जब तक किसी भी सत्य बात का मन पर प्रकाश नहीं पडता और दूसरों के शद्व ही निज की संपत्ति हुआ करते हैं तबतक सादगी, विनयशीलता, और मर्यादा होना अशक्य है। और इस कारण जो बात स्वभावतः भव्य हुआ करती है, उसे और भी अधिक भव्य प्रकट करने का मोह होता है। इस मोह के प्रदर्शनमें उस कविकी कमजोरी और उपहास का प्रदर्शन हुए बिना नहीं रहता।

मैं यदि लज्जित होकर बाल्यावस्था के अपने लेखन प्रवाह की ओर देखताहूं तो मुझे बाल्यावस्था और उसके बाद के लेखों में भी परिणाम की ओर विशेष लक्ष देने के कारण रहा हुआ अस्पष्ट स्वरूप का अर्थ-विपर्यास देखने को मिलता हैं, और उससे मुझे भय ही होता है। यद्यपि यह निःसंदेह है कि वहुत सी बार मेरे विचार मेरी आवाज की कठोरता में दब जाते हैं परंतु मुझे विश्वास है कि कभी न कभी 'समय मेरा सच्चा स्वरूप प्रगट किये बिना न रहेगा।

यह 'कवि कहानी' ही पुस्तक रूप में जगत के सन्मुख आने वाली मेरी पहिली कृतिथी। जब मैं अपने बडे भाई के साथ अहमदाबाद गया हुआ था तब मेरे एक उत्साही स्नेही ने उसे छपवा डाला और एक प्रति मेरे पास भेजकर मुझे आश्चर्य चकित कर दिया था। मेरा कहना यह नहीं है कि

उसने यह काम अच्छा किया था परंतु उस समय मेरी भावना संतप्त न्यायाधीश के समान भी नहीं थी जो मैं उसे दंड देता। तोभी उसे दंड मिल ही गया। मेरे द्वारा नहीं, पर पाठकों के द्वारा। क्योंकि मैंने यह सुना था कि पुस्तकों का भार विक्रेताओं की आलमारी पर और अभागे प्रकाशक के मन पर बहुत दिनों तक रहा।

जिस अवस्था में मैं भारती में लेख लिखने लगा उस अवस्था में लिखे हुए लेख प्रायः प्रकाशित करने योग्य नहीं होते। बडी अवस्था में पश्चात्ताप करने के लिये बाल्यावस्था में लिखी हुई पुस्तकें छापकर रखने के समान दूसरा कोई साधन नहीं है। परंतु इससे एक लाभ भी है वह यह कि अपने लेख छपेहुए देखने की मनुष्य में जो अनिवार्य इच्छा होती है वह बाल्यकाल मेंही इस तरह नष्ट हो जाती है और साथ में अपने पाठकों की, उनके अपने संबंध के मतों की, छपाई की, शुद्धि अशुद्धि की चिंता भी बाल्यावस्था के रोगों के समान नष्ट हो जाती है। फिर वडी अवस्था में लेखक को निरोगी और स्वस्थ्य मन से लेखन व्यवसाय करने का सुअवसर प्राप्त होता है।

बंगाली भाषा अभी इतनी पुरातन नहीं हुई कि वह अपने सामर्थ्य से अपने उपासकों के स्वैर-संधान को रोक सके। लेखक को अपने लेखन के अनुभव पर से ही स्वतः

को नियंत्रण करने वाली शक्ति पैदा करना पडती है। इसलिये बहुत समय तक हीन श्रेणी का साहित्य उत्पन्न करने से रोकना अशक्य होजाता है। शुरू शुरू में मनुष्य में अपने मर्यादित गुणों से ही चमत्कार दिखाने की महत्वाकांक्षा उत्पन्न होती ही है, इसका परिणाम यह होता है कि वह अपनी नैसर्गिक शक्ति को पद पद पर उलांघता और सत्य तथा सौंदर्य का अति क्रमण करता है। अपने सच्चे स्वरूप और वास्तविक शक्ति की पहिचान समय आने पर ही हुआ करती है, यह एक निश्चित बात है।

कुछ भी हुआ तोभी आजकल लज्जित करने वाला मूर्खपना उन दिनों की भारती में संचित कर रखा है। उसके साहित्य दोष ही मुझे लज्जित नहीं कर रहे हैं प्रत्युत उद्धतता मर्यादातिक्रम, अभिमान, और कृत्रिमता के दोष भी मुझे लज्जित करते हैं। इतना होने पर भी एक बात स्पष्ट है कि उस समय के मेरे लेख उत्साह से ओतपोत भरे हुए हैं। जिसकी योग्यता कोई भी कम नहीं कर सकता। वह समय ही ऐसा था कि उसमें गलती होना जितना स्वाभाविक था उतना आशावादिता, श्रद्धालुपना, और आनन्दी वृत्ति का होना भी स्वाभाविक था। उत्कंठा की ज्वाला के पोषण के लिये स्खलन (भूल) रूपी ईंधन की जरूरत थी। उससे जलने योग्य पदार्थ जलकर राख हो जाने पर भी उस ज्वाला

से जो कार्य सिद्धि हुई है वह मेरे जीवन में कभी निरर्थक नहीं जायगी ।

प्रकरण चौबीसवां

अहमदाबाद ।

'भारती' का दूसरा वर्ष प्रारंभ होनेपर मेरे ज्येष्ठ भ्राता ने मुझे विलायत ले जाने का विचार किया । पिताजी की सम्मति के संबंध में संदेह था, परंतु उन्होंने भी सम्मति देदी । इसे मैं परमेश्वर की एक देनगी ही मानता हूं । इस अकल्पित योगायोग से मैं चकित होगया । जब मेरा विलायत जाना निश्चित हुआ उन्हीं दिनों मेरे भाई की नियुक्ति न्यायाधीश के पदपर अहमदाबादमें की गई थी । अतः पहिले मैं उनके पास अहमदाबाद गया । वहां वे अकेले ही रहतेथे । मेरी भोजाई उन दिनों अपने बाल बच्चों सहित इंगलेंड में थी । इसलिये उनका घर एक तरह से सूनासा था ।

अहमदाबाद में न्यायाधीश के रहने के लिये एक "शाहीबाग" नामक स्थान निश्चित है । यह स्थान बादशाही जमाने का है । और उन दिनों इसमें बादशाह रहा करते थे । यह बड़ी और भव्य इमारत है । इसके चारों ओर कोट

और गच्ची थी। कोट के एक ओर उस से लगी हुई साबर-मती नदी है। वे गर्मी के दिन थे। अतः नदी का जल सूख गया था और क्षीण धारा के रूप में एक ओर बहता था। जब मेरे भाई दुपहर के समय कचहरी चले जाते तब मैं अकेला ही रह जाता। घर सुन सान हो जाता और जहां तहां स्तब्धता फैल जाती। इस स्तब्धता को भंग करते हुए कभी कभी कबूतरों की आवाज बीच बीच में आया करती थी। इस स्तब्धता में मेरा समय इधर उधर अज्ञात वस्तुओं को देखने जानने में ही व्यतीत हुआ करता था। इससे मेरा मन भर जाता था। और इसी मन--भरोती के उत्साह में मैं सुन सान दालानों में इधर से उधर घूमा करता था।

एक बडे दालान के एक कोने में मेरे ज्येष्ठ भ्राता ने अपनी पुस्तकें रखदी थीं। उसमें एक 'टेनिसन' के लेखों का संग्रह भी था। यह संग्रह-ग्रन्थ सचित्र मोटे अक्षरों में छपा हुआ और काफी बडा था। उस राजभवन ने जिस तरह मुग्धता धारण कर ली थी उसी तरह इस पुस्तक ने भी! उस भवन में जिज्ञासा से प्रेरित होकर मैं उसके दालानों में इधर से उधर घूमता तो रहता पर मन को समाधान नहीं मिलता। उसी तरह इस पुस्तक के चित्रों को भी मैं बारंबार देखता पर उसके सूत्र को नहीं समझ पाता था। यह बात नहीं है कि मैं उसे बिलकुल ही नहीं समझ पाया, पर इतना कम

समझा कि उसे बांचते समय वह अर्थ पूर्ण शब्दों से भरी हुई है, यह भास होने के बजाय मुझे उसमें पक्षियों की चुलबुलाहट का भान होता था। इन्हीं पुस्तकों में मुझे एक संस्कृत कविता की पुस्तक मिली। इसे डाक्टर हबरलिन ने श्रीरामपुर के छापखाने में छपाकर प्रकाशित की थी। यह पुस्तक भी बिलकुल समझ में आने योग्य नहीं थी तोभी अपनी सदा की जिज्ञासा से आतुर होकर मैं इसे बांचने लगा। इसमें संस्कृत शब्दों की खनखनाहट, द्रुत गति के भिन्न २ छन्दों और अमरू शतक के पदों की मंजुल व धीमी चाल, इतनी बातें एकसाथ मिल जाने पर फिर क्या पूछना है!। समझ में आओ या मत आओ, मैं तो इसे बार बार पढने लगा।

उस प्रासाद के मीनार के सबसे ऊपर के कमरे में मेरा निवास स्थान था। यह स्थान बिलकुल एकांत में था। यहां मुझे किसी का भी साथ न था। हां वहां मधु मक्खी का छत्ता था, वह जरूर मेरा साथी था। रात्रि के निबिड अंधकार में मैं वहां अकेला ही सोता था। बीच बीच में एकाध मधु मक्खी उस छत्ते में से मेरे पर गिर पडती थी। ज्योंही नींद में मैं करवट बदलता त्योंही वह मेरे नीचे दबी हुई मिलती। हम दोनों की यह आपसी भेंट दोनों को ही त्रास दायक होती थी। मेरे शरीर के नीचे दब जाने से उसे वेदना, और उसके काटने से मुझे वेदना।

मेरे में अनेक लहरें उठा करती थीं। उनमें से चांदनी के प्रकाश में नदी से लगी हुई गच्ची पर इधर से उधर घूमने की भी एक लहर थी। चंद्र प्रकाश में आकाश की ओर देखते हुए कुछ न कुछ विचार में मग्न होकर मैं घूमता रहता था। और इस घूमने में कितना समय निकल जाता था इस का भान भी नहीं रहता था। इसी घूमने में मैंने अपनी कविताओं के लिये अपना गायन स्वर मिलाया। और बहुत से पदों की रचना की। इन्हीं में से 'गुलाब प्रमदा' के संबोधन में लिखा हुआ पद भी है जो आगे जाकर छपा, और अब भी मेरे दूसरे पदों के साथ साथ वह छापा जाता है। अहमदाबाद में मेरा दूसरा कार्यक्रम अंगरेजी पुस्तकों को बांचने का था। जब मुझे यह मालूम हुआ कि मेरा अंग्रेजी का ज्ञान बिलकुल अपूर्ण है और उसे बढाने की जरूरत है तब मैंने 'कोश' की सहायता से पुस्तकें बांचना शुरू किया। बहुत छोटी अवस्था से मुझे एक ऐसी आदत पड गई थी कि न समझने पर भी मैं पुस्तक पूरी किये बिना नहीं छोडता था। समग्र पुस्तक का अर्थ न समझने पर भी बीच बीचमें जो कुछ मैं समझता था उसी के आधार पर आगे पीछेका संदर्भ, कल्पना से मिला लेता था और उससे जो मुझे अर्थज्ञान होता उसीसे मैं संतोष प्राप्त कर लेता था। इस आदत का भला बुरा परिणाम आज भी मुझे भोगना पडता है।

प्रकरण पंचवीसवाँ

विलायत ।

इस प्रकार अहमदाबाद में छह महिने निकाल कर हम विलायत को रवाना हुए। बीच बीच में मैं अपने आप्तजनों को और 'भारती' को प्रवास वर्णन लिखा करता था। अब मुझे मालूम होता है कि यदि मैंने उस समय प्रवास वर्णन नहीं लिखा होता तो अच्छा होता। क्योंकि मेरे हाथ से निकलते ही वे वर्णन जग जाहिर होगये। उन का वापिस आना मेरे हाथ में नहीं रहा। इन पत्रों के संबंध में मुझे जो चिंता हुई उस का कारण यह है कि वे यौवनोचित दर्पोक्ति के एक दृश्य चित्र ही थे। तारुण्य के प्रारंभ का काल ऐसा ही होता है। उस समय जगत का अनुभव नहीं रहता और न यह कल्पना ही होती है कि बौद्धिक जगत की अपेक्षा व्यावहारिक जगत भिन्न प्रकार का होता है। उस समय कल्पना शक्ति का ही अवलम्बन रहता है। नवीन रक्त उछाले मारता है। ऐसे समय में मानसिक उन्नति का क्षेत्र बढाने के लिये विनय सम्पन्नता एक सर्वोत्कृष्ट साधन है, यह सादी बात भी मन को नहीं पटती। इस समय दूसरे के कहने को समझना, उसके गुण का आदर करना, उस की कृति के सबंध में उच्च मत रखना दुर्बलताओं और पराजय का चिन्ह माना जाता है। और दूसरे के प्रभाव को स्वीकार करने की प्रवृत्ति नहीं

रहती। वाद विवाद करके दूसरे को पराजित करने और अपना प्रभाव जमाने की जब इच्छा होती है तब शाब्दिक अग्नि बाणों की वर्षा हुए बिना नहीं रहती। मेरे पत्रों की भी करीब करीब यही स्थिति थी। दूसरे को नाम रखकर, दूसरे के कहने का खंडन करके अपना बड़प्पन जमाने की खुमखुमी मेरे रक्तमें भी खेल रही थी। यदि सरलता पूर्वक और दूसरे की मुहब्बत का ख्याल करके मैंने अपने मत प्रतिपादन करने का उन पत्रों में प्रयत्न किया होता तो आज उन्हें देखकर मुझे एक प्रकार का आनंद होता और हँसी आये बिना नहीं रहती। परंतु बात इसके बिलकुल खिलाफ थी। इसी लिये अब मुझे यह मालूम होता है कि मैंने किसी कुमुहूर्त में उन पत्रों को लिखना प्रारंभ किया था।

इस समय मेरी अवस्था सत्रह वर्ष की थी। जगका मुझे बिलकुल अनुभव नहीं था। क्योंकि इस समय तक वाह्य जगत से मेरा कभी कोई संबंध नहीं हुआ था। जगत के व्यवहारों से मैं एकदम अलिप्त था। ऐसी व्यवहार ज्ञान शून्य स्थिति में विलायत सरीखे देश को, जहां की परिस्थिति एवं समाज अपने देश की परिस्थिति एवं समाज से भिन्न है, मैं जारहा था। वह ठहरी विलायत। वहां का समाज एक महासागर !। जब कि एक सादे और उथले प्रवाह में भी चार हाथ नहीं मार सकता तो फिर उस महासागर की

क्या बात ?। वहां मैं कैसे तैर सकता था। इसी बात का भय मुझे रह रह कर लगता था । परंतु "ब्राम्टन" में मेरी भोजाई अपने बाल बच्चों के साथ रहती थी। पहले पहल हम वहीं गये। और उसके आधार से मैं पहिली झंझट से तो पार होगया।

उस समय शीत ऋतु नजदीक आ पहुँची थी। एक दिन शाम को बैठे हम गप्पें मार रहे थे कि लडके "वर्फगिर-रहाहै" यह कहते हुए हमारे पास दौड कर आये। यह सुनकर मैं चकित होगया और उसे देखने के लिये बाहर गया। बाहर की ओर कडाके की ठंड पड रही थी और वह शरीर को भेदे डालती थी। श्वेत शुभ्र प्रचण्ड प्रकाश से आकाश व्याप्त था। और सृष्टि-प्रदेश वर्फ मय होजाने के कारण ऐसा मालूम होता था मानो उसने शुभ्र कवच धारण किया हो । इमारतें, उपवन, वृक्षलता, पल्लव, आदि कुछ न दिखकर जहां तहां शुभ्रता ही शुभ्रता दिखलाई पडती थी। सृष्टि का यह दृश्य मेरे लिये अपरिचित था। भारत वर्ष में जो सृष्टि सौंदर्य मेरे अनुभव में आया था वह इससे भिन्न था। उस समय मुझे यह भान हुआ कि मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूं। मैं अपनी सजगता पर भी संदेह करने लगा। उस समय नजदीक की चीज भी बहुत दूरपर मालूम होती थी। दरवाजे से पैर बाहर रखते ही मन को चकित कर देने वाला सृष्टि-सौंदर्य दिखलाई

पडता था। इसके पहिले सृष्टि-सौंदर्य का ऐसा संग्रह मैंने कभी नहीं देखा था।

अपनी भोजाई के प्रेमपूर्ण छत्र के आश्रय में लडकों के साथ खेलते कूदते रोते रुलाते और ऊधम मचाते हुए मेरे दिन आनंद में व्यतीत होने लगे। मेरे इंगलिश उच्चारण को सुनकर उन्हें बडा आनंद होता था। यद्यपि मैं उन के खेल कूद में अन्तःकरण पूर्वक शामिल होता था और उससे मुझे आनंद भी मिलता था परंतु मेरे इंग्लिश उच्चारण से उन्हें बडी मजा मालूम होती और वे मेरी मजाक उडाते। Warm शब्द में a (ए) और Worm शब्द में के o (ओ) के उच्चारण में तर्क शास्त्र की कसोटी पर ठहर सकने योग्य कोई फर्क नहीं है। मुझे उन बालकों को यह समझाते समझाते नाक में दम आ जाता था कि भाई! इस तरह के उच्चारण के लिये कोई एक खास नियम नहीं है! परंतु वे क्या समझने वाले थे ?। और इसमें मेरा भी क्या दोष था! अंग्रेजी की वर्ण-रचना-पद्धति ही जब कि सदोष है। इस की न तो कोई पद्धति और न नियम बद्धता। परंतु ऐसी सदोष पद्धति का उपहास न होकर उपहास की मार मुझे सहन करना पडती थी। इसे मैं अपने दुर्दैव के सिवाय और क्या कह सकता हूँ ?

इस अर्से में बालकों को किसी न किसी बात में लगा रखकर उनका मनोरंजन करने के भिन्न भिन्न मार्ग ढूंढ निकालने में मैं निष्णात होगया। इसके बाद कई बार मुझे इस स्वयं

सम्पादित कला की जरूरत पडी और आज भी इसकी बहुत जरूरत प्रतीत होती है। परंतु उस समय जिस प्रकार अगणित नवी नवी युक्तियां सूझा करती थीं, वह बात अब नहीं रही। बालकों के आगे अपने अन्तःकरण को खुला करने का यह मुझे पहला ही अवसर था। और इस अवसर का मैंने यथेच्छ उपयोग भी किया।

हिन्दुस्तान में मिलने वाले गृह–सौख्य के बजाय समुद्र पार के गृह–सौख्य को प्राप्त करने के लिये तो मैं विलायत भेजा ही नहीं गया था। और न चार दिन हँसी मजाक में बिताकर लौट आने के उद्देश्य से भेजा गया था। वहां भेजने का तो यह उद्देश्य था कि मैं कानून का अभ्यास करूं और बरिष्टर बनकर लौटूं। अतः अब मेरे पढने की बारी आई और बायरन नगर की एक शाला में मैं दाखिल किया गया। पहिले ही दिन वहां की रीति के अनुसार मुझे पहले पहल हेड मास्टर साहब के पास जाना पडा। एक दो प्रश्नों के बाद मेरे चेहरे को गौर से देखते हुए वे बोले कि–'तेरा मस्तक कितना सुन्दर है'?। पांच शब्दों का यह एक ही वाक्य था। परंतु वह वाक्य और वह प्रसंग मुझे इस तरह याद है मानों आज कल की बात हो। क्योंकि घर में रहते समय मेरी भोजाई सदा मेरे वृथाभिमान को रोकने की कोशिश किया करती थी। वह मेरे स्वाभिमान को कभी सिर न उठाने देती थी। यह काम उसने अपने आप ही अपने

ऊपर ले लिया था। वह कहा करती कि तुह्मारे शिर के हिस्से और कपाल को देखते यह मालूम होता है कि दूसरों के बजाय तुह्मारी बुद्धि मध्यम प्रती की है। उसने अपना यह मत मेरे हृदय पर अच्छी तरह जमा दिया था। मैं भोजाई के इस कहने पर आंख मीचकर विश्वास भी करता था और मुझे बनाते समय विधाता ने जो कंजूसी की उस पर मन ही मन दुःखी हुआ करता था। मैं दूसरे के कहने को चुप चाप मान लेता हूं। आशा है कि मेरे इस सौजन्य की पाठक कद्र करेगें। मेरी भौजाई के द्वारा मेरे गुणों की जितनी सराहना होती थी उसकी अपेक्षा बहुत अधिक सराहना विलायत में कई बार मेरे परिचित लोगों के द्वारा हुई है। दोनों देशों के लोगों की गुण-ग्राहकता में यह अंतर देखकर मेरे मन को बार बार कष्ट होता था।

इस पाठशाला में भी मैं अधिक नहीं रहा। परंतु यह शाला का दोष नहीं था। बात यह थी कि उस समय 'श्री तारक पालित' विलायत में ही थे। उन्हें यह भास हुआ कि इस रीति से मेरे कानून पढने का उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। अतः उन्होंने मेरे भाई को इसके लिये तैयार किया कि मैं लंडन भेजा जाऊँ ओर वहां किसी के घर पर रहकर अभ्यास करूं। अतः मैं लंडन भेजागया। लंडन में रहने की व्यवस्था तारक बाबू ने की। जिस कुटुम्ब में यह व्यवस्था की गई थी वह रिजेंट बाग के सामने रहा करता था। जब

मैं लंडन गया तब खूब सर्दी पड रही थी। ऊंचे ऊंचे वृक्षों पर सर्दी के जोर के मारे एक भी पत्ता नहीं रहा था। और उनकी शाखाएं वर्फ से ढक गई थीं। चारों ओर वर्फ ही वर्फ दिखलाई पडता था।

पहले पहल जाने वाले के लिये लंडन की ठंडी बडी त्रास दायक होती है। शीत ऋतु में इतना त्रास-दायक स्थल शायद ही कोई दूसरा होगा। अडोस पडोस में मेरी किसी से भी जान पहिचान नहीं थी। और किसी से पहिचान करूं भी कैसे ?। अतः वाह्य जगत को इक टक दृष्टि से देखते हुए खिडकी में अकेले बैठे रहने के दिन मेरे जीवन में पुनः प्राप्त हुए। इस समय सृष्टि-वैभव चित्ताकर्षक नहीं था। सृष्टि देवता क्षुब्ध हो रही थी। और मालूम होता था कि मानो उसके मस्तिष्क पर क्रोध के चिन्ह स्वरूप सलें पडी हुई हैं। आकाश धूसर होगया था और मृत मनुष्य के निस्तेज नेत्रों के समान प्रकाश फीका पड गया था। क्षितिज प्रदेश संकुचित होगया था। इस तरह वह सब दृश्य भयङ्कर दिखलाई पडता था। और इस बडे भारी विशाल जगत में आदरातिथ्य से भरे हुए मधुर स्मित का पूर्ण अभाव हो गया था। घर के बाहर की यह दशा थी और घर के भीतर उत्तेजन मिलने का कोई साधन नहीं था। मेरे रहने का स्थान बहुत साधारण रीतिसे सजा हुआ था। दीवान खाने को सजाने लायक प्रायः कोई वस्तु वहाँ नहीं

थी। हां, कहने सुनने के लिये एक वाजे की पेटी जरूर थी। दिन अस्त होते ही मैं पेटी लेकर बैठ जाता और चाहे जिस तरह उसे बजाता था। कभी कभी कोई हिन्दुस्थानी गृहस्थ मुझ से मिलने को आया करते थे। और इधर उधर की बातें करके जब वे जाने को तैयार होते तो उन से अल्प परिचय होने पर भी, उन्हें न जाने देने की मुझे इच्छा होती, और इसके लिये उन का पल्ला पकडकर बैठाने की बार बार उत्कंठा हुआ करती थी।

यहाँ मुझे लेटिन सिखाने के लिये एक शिक्षक नियत किये गये थे। इनका शरीर बहुत ही कृश था। कपडे भी जूने पुराने पहिनते थे। शर्दी का कडाका सहन करने के लिये पत्र विहीन वृक्षों की अपेक्षा उनमें अधिक शक्ति नहीं थी। उनकी उम्र यद्यपि मुझे मालूम नहीं है पर जितनी थी उस से अधिक वयस्क दिखलाई पडते थे। पढाते पढाते बीच में ही उन्हें एकाध शब्द अड जाता था। अतः वे शून्य मनस्क होकर लज्जित हो जाते थे। उनके घर के आदमी उन्हें प्रायः सनकी समझा करते थे। इन्होंनें एक तत्व की खोज की थी। और उसी की चिन्तना में रातदिन लगे रहते थे। उन को यह दृढ विश्वास था कि प्रत्येक युग की मानव समाज में कोई एक ही कल्पना प्रमुखता से उद्‌भूत होती हैं। संस्कृति की न्यूनाधिकता के कारण इस

कल्पना का स्वरूप भिन्न भिन्न प्रकार का होता हुआ भी मूल भूत कल्पना एक ही प्रकार की रहती है। इस मूल भूत कल्पना की जनक कोई एक समाज विशेष होकर अन्य समाजें किसी न किसी पद्धति के रूपमें उसे स्वीकार करती हों, यह बात नहीं है किंतु भिन्न भिन्न समाजों में एकही समयमें एकही प्रकार की कल्पना का बीजारोपण हुआ दिखलाई पड़ता है। अपने इस नवीन शोधित प्रमेय की सिद्धि के लिये वे प्रत्यक्ष प्रमाण का संग्रह करने और उसे लिखने में सदा लगे रहते थे। यही एक व्यवधान उन्हें चैन नहीं लेने देता था। किसी भी उद्योग में उन का चित्त नहीं लगता था और पेट भरने का दूसरा कोई साधन नहीं था। अतः घर में चूहे लौटा करते थे। फिर शरीर पर ठीक वस्त्र कहां से आते। संतान में इनके लडकियां थी। उनका इस सिद्धांत पर विश्वास नहीं था। और वे अपने पिता की खोज का बहुत थोडा आदर करती थीं। वे अपने पिता को विक्षिप्त समझा करतीं और मैं समझता हूं कि बार बार उनको फटकारती रही होगी। कभी कभी उनके चेहरे पर एकदम आनंद की छटा पसर जाती और उस पर से लोग समझते कि उन्हें कोई नवीन प्रमाण अपने सिद्धांत को प्रस्तावित करने के लिये मिला होगा। ऐसे समय मैं भी उनकी बात में चित्त लगाया करता था। उनकी स्फूर्ति देखकर मुझे भी आवेश आता था, परंतु कभी कभी इससे भी उलटा होता था। उनका सब आनंद भाग जाता, आवेश नष्ट होजाता और दुःख में

इतने चूर होजाते कि उन्हें शिर पर लिया हुआ यह भार असह्य हो जाता था। ऐसे समय में हमारी पढाई की बात का क्या पूछना ?। पद पद पर ठहरना और अन्यमनस्क होकर किसी एक ओर टकटकी लगाकर देखते रहना। उस समय लेटिन व्याकरण की पहिली पुस्तक मैं पढ रहा था। परंतु इस ओर उनका मन काहे को लगने लगा। पुस्तक आगे रखी हुई है, सीखने के लिये मैं सामने बैठा हुआ हूं; परंतु गुरुजी का मन शून्य आकाश में हवा खा रहा है। शरीर से दुर्बल और उपर्युक्त तत्व के भार से दबे हुए इस गरीब शिक्षक की मुझे दया आती थी। लेटिन सीखने में इनसे मुझे कुछ भी सहायता नहीं मिलती थी। तोभी इन्हें छोड देने का मुझ से निश्चय नहीं होता था। जब तक मैं इस कुटुम्ब में रहा, लेटिन सीखने का यही तरीका जारी रहा। कुछ दिनों बाद मुझे दूसरे स्थान पर रखने का निश्चय किया गया। अतः जाने के पहिले मैंने अपने इन गुरुजी से पूछा कि आपको क्या देना चाहिये ?। दुःखित होकर उन्होंने उत्तर दिया कि "मैंने तुझे कुछ नहीं पढाया, प्रत्युत तरा समय ही लिया है, अतः मुझे तुझसे कुछ भी लेना नहीं चाहिये।" इसपर मैंने बहुत आग्रह किया और अंत में फीस लेने के लिये उन्हें तैयार किया।

मेरे उक्त गुरुजी ने अपने तत्व के समर्थनार्थ एकत्रित किये हुए प्रमाणों को मुझे समझाने का प्रयत्न कभी नहीं

किया। इसलिये यद्यपि उनके कथन को मैं समझ नहीं सका तोभी आज तक इस सिद्धांत पर मैंने आक्षेप नहीं किया। उनका वह सिद्धांत मुझे उस समय भी सत्य मालूम हुआ और आज भी मालूम होता है। मेरा ऐसा विश्वास है कि किसी अत्यंत गूढ और अखंड तार के द्वारा मनुष्य प्राणियों के मन एक दूसरे से बंधे हुए हैं और इसीलिये एक ओर 'खट' होने पर बीच के इसी अदृश्य तार के द्वारा दूसरी ओर तुरंत 'खट' होजाता है।

इसके बाद श्रीयुत पालित ने मुझे 'वार्कर' नामक एक शिक्षक के घर पर रखा। यह महाशय अपने घर पर विद्यार्थियों को रखकर उनकी परीक्षा की तैयारी करा दिया करते थे। ऐसे ही विद्यार्थियों में से मैं भी एक था। निरालसी और सीधी सादी स्त्री के सिवाय नाम लेने योग्य दूसरी कोई चीज उनके घरमें नहीं थी। यह समझना कठिन नहीं है कि विद्यार्थियों को शिक्षक चुनने कीसंधि न मिलने के कारण ही ऐसे शिक्षकों को ट्यूशन (पढाइ) मिला करती है। परंतु पढाई के समान स्त्री प्राप्त करना सहज नहीं है। स्त्री प्राप्त करने में क्या क्या कठिनाई आती है यह सुनने पर मन चकित होजाता है। श्रीमती वार्कर का एक कुत्ता था। इसके साथ खेलने में उन्हें बहुत संतोष मिलता था। जब वार्कर महाशय अपनी स्त्री को त्रास देना चाहते थे तो वे

इस कुत्ते को सताया करते । परिणाम यह होता कि इस मूक जानवर पर उस बाई का प्रेम अधिक बढता जाता साथमें अपने पति से मन मुटाव भी ।

इस परिस्थिति में मुझे अधिक दिनों तक नहीं रहना पडा । और मेरी भौजाई ने मुझे डेव्हन-शायर में टार्के स्थान पर रहने के लिये बुला लिया । उस समय मैं आनंद से फूल गया, और तुरंत वहां चला गया । वहां की टेकडियां, समुद्र, पुष्पाच्छादित उपवन, पाइन वृक्षों की छाया, और अति चंचल दोंनों खिलाडी साथियों की संगति में मैं कितना सुखी था यह कहना शक्ति के बाहर है । इस प्रकार मेरे नेत्र सौंदर्य से भर गये थे । मन प्रफुल्लित था । और मेरे दिन सुख से व्यतीत हो रहे थे । ऐसे समय में भी काव्य स्फूर्ति क्यों नहीं होती, इस चिंता से मैं अपने आपको दुखी बना लेता था । एक दिन कवि का भाग्य आजमाने के लिये मैं कोरी पुस्तक और छत्री हाथ में लेकर पर्वत के एक किनारे की ओर चला गया । मेरी खोजी हुई जगह निःसंदेह अत्यंत सुन्दर थी । उसका सौंदर्य मेरी कल्पना शक्ति अथवा यमक के ऊपर निर्भर नहीं था । पर्वत का शिरा आगे आया हुआ था । और वह जल तक चला गया था । आगे की ओर फेनपूर्ण लहरों में अस्त होते हुए सूर्य की किरणें विलीन हो रही थीं । सूर्यनारायण विश्रांति के लिये एकांत स्थान को जा

रहे थे। थकी हुई वन देवता के खुले हुए अंचल के समान पाइन वृक्षों की छाया, पीछे की ओर फैली हुई थी। ऐसे रमणीय स्थान में एक शिला तल पर विराजमान होकर मैंने 'मग्नतरी' (डुबी हुई नौका) नामक कविता की रचना की। उसी समय उस कविता को यदि समुद्रस्थ कर दी होती तो अच्छा हुआ होता। अब उसे मेरी अन्य कवि-ताओं में स्थान मिल गया है। यद्यपि मेरे प्रकाशित काव्य ग्रंथों में उसे स्थान प्राप्त नहीं हुआ है तोभी वह कविता इतनी सर्वतोमुखी हो गई है कि उसे कोई भी प्रकाशित कर सकेगा।

इस प्रकार कुछ दिनों तक मेरे दिन वहां व्यतीत हुए। ये दिन प्रायः आलस्य ही में व्यतीत हुए। मैं तो निश्चिंत हो गया था। पर कर्तव्य थोडे ही निश्चिंत होता है। अतः कर्तव्य का फिर तकाजा हुआ, और मुझे लंडन जाना पडा। इस बार डा. स्काट के यहां रहने का प्रबंध किया गया था। अतः एक दिन सामान लेकर मैंने उनके घर पर चढाई की। डा. स्काट के चेहरे पर वृद्धत्व स्पष्ट प्रगट हो रहा था। डा. स्काट, उनकी स्त्री, और उनकी बडी लडकी मुझे वहां मिली। दो लडकियां उनके और थीं। पर वे अपने घर पर विदेशी भारतीय गृहस्थ की चढाई के समाचारों से शायद डर कर एक नातेदार के घर पर चली गई थीं। जब मेरे पहुंचने पर

उन्हें यह समाचार मिले होंगे कि मैं कोई भयंकर मनुष्य नहीं हूं तब वे लौट आईं। थोडे ही दिनों में उस कुटुम्ब का और मेरा इतना स्नेह जम गया कि मैं उनमें का ही एक बन गया। श्रीमती स्काट मुझे अपने पुत्र के समान समझती थीं और उनकी लडकियों का मेरे साथ इतना प्रेम पूर्ण व्यवहार था जितना कि निजी नातेदारों तक का नहीं होता।

इस कुटुम्ब में रहते हुए एक बात मेरे ध्यान में यह आई कि मनुष्य स्वभाव, कहीं भी जाओ, एक ही प्रकार का मिलेगा। अपन प्रायः कहा करते हैं और मेरा भी ऐसा ही मत था कि भारतीय स्त्रियों की पति भक्ति अलौकिक हुआ करती है, वैसी युरोपियन स्त्रियों में नहीं होती। परंतु इस समय मुझे अपना यह मत बदलना पडा। श्रेष्ठ श्रेणी की भारतीय स्त्री की पति परायणता और श्रीमती स्काट की पति परायणता में मैं कुछ भी अंतर नहीं जान सका। श्रीमती स्काट की पति परायणता अत्यंत श्रेष्ठ थी। वे अपने पति से तन्मय हो गई थीं। उनकी सांपत्तिक स्थिति साधारण थी इस लिये नोकर चाकर भी मामूली तोरपर रखकर, फिजूल बडप्पन न बताकर छोटे बडे सब काम श्रीमती स्काट अपने हाथों स्वयं करती थीं। और सदा अपने पति के कार्यों में मदद देने को तैयार रहती थीं। शाम के समय पति के वापिस आने के पहिले वे स्वयं अपने हाथों से अंगीठी (सिगडी) तैयार करके आराम

कुर्सीपर खडाऊँ रख देतीं और पति के स्वागत के लिये तैयार रहती थीं। वे अपने मन में सदा इस बात का ध्यान रखती थीं कि पति को कौनसी बात पसंद है और किस प्रकार का व्यवहार वे चाहते हैं। आठों पहर उन्हें केवल पति सेवाका ही ध्यान रहता था।

प्रति दिन सुबह श्रीमती स्काट अपनी नोकरनी को लेकर घर के ऊपर की मंजिल से नीचे तक आतीं जातीं और सफाई करवातीं तथा अस्त व्यस्त पडे हुए सामान को व्यवस्था से जमवा देतीं। जीने के कठडे की पीतल की छडें दरवाजे की कडियां वगैरह घिसकर इतना स्वच्छ करतीं कि वे फिर चमकने लगतीं। प्रति दिन के निश्चित कामों के सिवाय कितने ही सामाजिक कर्तव्य उन्हें करना पडते थे। दैनिक कार्य होजाने पर शाम के वक्त हमारे वाचन एवँ गायन में सम्मिलित हुआ करती थीं। क्योंकि अवकाश के समय को आनंद में व्यतीत करने में सहायक होना सुगृहिणी का एक कर्तव्य ही है।

कितनी ही बार शाम को डा. स्काट की लडकियां टेबिल फिरा फिरा कर कोई खेल खेला करती थीं। मैं भी इस खेल में शामिल होता था। चाय की एक छोटी सी टेबिल पर हम हमारी उंगलियां रखते और वह सब दीवान खाने में फिरने लगती। आगे जाकर तो ऐसा होगया कि जिन वस्तुओं पर हम

हाथ रखते वे सब थर थर कांपने लगतीं। श्रीमती स्काट को ये बातें रुचती नहीं थीं, परन्तु इस सम्बन्ध में वे कुछ विशेष नहीं बोला करती थीं। हां, कभी कभी गंभीर चेहरा बनाकर गर्दन हिला देतीं, मानों वे गंभीरता पूर्वक यह कहती थीं कि ये बातें उन्हें पसंद नही हैं। तोभी हमारे उत्साह के भंग न होने के लिहाज से वे चुप चाप हमारे इस खेल को सहन करती थीं। एक दिन डा० स्काट की चील के समान टोपी को फिराने के लिये हम लोगों की तैयारी हुई। उस समय यह बात श्रीमती स्काट को बिलकुल असह्य हुई। घबडाती हुईं वे हमारे पास आईं। और उस टोपी को हाथ न लगाने के लिये उन्होंने हमें सावधान कर दिया। संतानों का एक पलभर के लिये भी अपने पति के शिरस्त्राण से हाथ लगाना उन्हें सह्य नहीं हुआ।

उन के सब कार्यों में अपने पति के संबंध में आदर प्रमुखता से दिखलाई पडता था। उन के आत्मसंयम का स्मरण होते ही स्त्री प्रेम की अंतिम पूर्णता उपास्य बुद्धि में विलीन होगई है, ऐसा मुझे विश्वास हो जाता है। स्त्री प्रेम की वाढ को कुंठित करने के लिये कोई कारण पैदा न हो तो फिर वह प्रेम नैसर्गिक रीतिसे उपासना में रूपांतरित हो जाता है। जहां ऐयासी की रेलपेल और छ्छोर पना रात दिन रहता है, वहीं इस प्रेम की अवनति होती है। और साथ ही इस प्रेम की पूर्ति से प्राप्त होने वाले आनंद का स्त्री जाति उपयोग नहीं कर पाती।

यहां मैं कुछ ही महिने रह पाया। क्योंकि मेरे ज्येष्ठ भ्राता हिंदुस्तान को लौटने वाले थे। मुझे भी साथ में आने के लिये पिताजी का पत्र आया। इस आशा से मुझे बडा आनंद हुआ। मेरे देश का प्रकाश और आकाश मुझे मुग्ध रीत्या बुला रहे हैं, ऐसा भान होने लगा। हमारी तैयारियाँ होगई और मैं जाने के पहिले श्रीमती स्काट से भेंट करने के लिये गया। उन्होंने अपने हाथ में मेरा हाथ लेकर रोना शुरू किया। वे अपने को संभाल न सकीं। कहने लगीं "अरे तुझे इतना शीघ्र जाना था तो फिर हमारे दिल को प्रेम का धक्का लगाने के लिये फिर आया ही क्यों था। अरे परमात्मा, ऐसे प्रेमी व्यक्तियों का सहवास क्यों नहीं होने देता"।

अब लंडन में यह कुटुम्ब नहीं है। स्काट साहब के घर के कुछ आदमी किसी दूसरे दूरस्थ देश को चले गये हैं। और कुछ इधर उधर हैं, जिन का मुझे पता नहीं। परंतु मेरे मन में उन का स्मरण आजन्म जागृत रहेगा।

मेरी इस पहिली विलायत यात्रा की कुछ बातें स्पष्ट रीति से मेरी स्मृति में है। सर्दी के दिन थे। मैं टर्न ब्रिजवेलस के एक रास्ते से जा रहा था। मार्ग की एक ओर एक आदमी को मैंने खडे देखा। फटे पुराने जूतों में से उस के पेर की उँगलिया बाहर निकल रही थीं। छाती आधी खुली

थी। वह मुझ से कुछ नहीं बोला। संभवतः कानूनन भिक्षा मांगना वहां बंद होने से वह मूक रहा होगा। सिर्फ क्षणभर उसने मेरे पैरों की ओर देखा। मैंने एक सिक्का खीसे में से निकाल कर उसे दिया। आशा से अधिक कीमती भिक्षा मिलने के कारण पहिले तो वह चार कदम आगे बढ गया पर तुरंत ही लौटा और मुझ से कहने लगा—"महाशय आपने भूल स मुझे मोने का सिक्का दे दिया है"। यह बात मेरे ध्यान में नहीं रही होती; परंतु दूसरे एक प्रसंग पर ऐसी ही एक घटना और होने के कारण दोनों बातें मेरे ध्यान में अच्छी तरह रह गईं। टार्के स्टेशन पर जब मैं पहले पहल उतरा तब एक मजदूर आया और मेरा सामान स्टेशन फाटक के बाहर खडी हुई एक गाडी में लाकर रख दिया। पैसे की थैली में मैं छुट्टे पैसे देखने लगा पर न होने से मैंने उसे आधा क्राउन दे डाला। गाडी चलने लगी। कुछ समय बाद वह मजदूर दौडता हुआ गाडी रोकने के लिये आवाज देने लगा। मैं समझा कि मुझे भोला भंडारी समझ कर कुछ और एंठने की नियत से वह आ रहा है। परंतु उसने आकर कहा कि "महाशय आपने भूल से एक पेनी की जगह आधा क्राउन दे डाला।"

यह नहीं कह सकता कि मैं विलायत में रहकर ठगाई में नहीं आया। आया तो होउंगा परंतु वे घटना ध्यान में रखने योग्य नहीं हैं। अनुभव से मेरा यही मत निश्चित

होगया है कि विश्वास पात्र लोगों को दूसरे पर विश्वास करने का तरीका अच्छी तरह मालूम रहता है। मैं एक अपरिचित मनुष्य था और सहज एवं निर्भय रीति से मैं व्यापारियों को चाहता तो उनके पैसे नहीं दे सकता था। परंतु लंडन के किसी भी दूकानदार ने मेरा कभी अविश्वास नहीं किया।

मेरे विलायत के निवास में कुछ हास्य करक घटनाएं भी हुईं। उनमें से एक मुख्यतया मेरी स्मृति में है। वह यह कि एक बार किसी स्वर्गीय बडे एंग्लो इंडियन अफसर की स्त्री से मेरा परिचय होगया। वह मुझे 'रवि' कहकर बुलाती थी। उसके एक भारतीय कवि मित्र ने उसके मृत पति के स्मरणार्थ अंग्रेजी में एक करुण रस पूर्ण कविता लिखी थी। इस कविता के गुण दोष अथवा भाषा पद्धति का विवेचन करने का यह स्थान नहीं है। मेरे दुर्दैव से कवि ने कविता पर यह लिख रखा था कि यह विहाग राग में गाई जाय। एक दिन वह कविता विहाग राग में गाने के लिये उसने विशेष आग्रह पूर्वक विंती की। मैं ठहरा भोला भाला अतः उसका कहना मान्य किया। इस कविता पर जबर दस्ती विहाग राग लादा गया था। यह हास्यास्पद और निंद्य बात पहिचान ने योग्य वहां कोई नहीं था। यह भी मेरा दुर्दैवही समझना चाहिये। अपने पति की मृत्यु का हिन्दुस्तानी मनुष्य द्वारा रचा हुआ शोक-गीत हिन्दुस्तानी राग में सुनकर उस बाई का मन

शोक से भर गया। मैं समझा कि चलो छुट्टी हुई, इसकी इच्छा पूर्ण होगई। पर राम राम, वह यहां ही रुकने वाली बात नहीं थी। इस बाई की बार बार भिन्न भिन्न समाजों में मुझ से भेंट हुआ करती और भोजन के बाद ज्योंही मैं दीवान खाने में स्त्रियों के समुदाय में जाता त्योंही वह बाई मुझे विहाग राग गाने के लिये कहती और दूसरी स्त्रियां भी भारतीय गायन का उत्कृष्ठ मसाला सुनने की इच्छा से आग्रह किया करतीं। साथही उस शोक गीत का छपा हुआ कागज बाई के खीशे में से बाहर निकलता और मुझे अंत में नीची गर्दन कर कम्पित स्वर से गाना प्रारंभ करना पडता। मुझे पूर्ण विश्वास है कि ऐसे स्थानों पर मेरे सिवाय उस गाने में किसी दूसरे का हृदय विदीर्ण होने की संभावना नहीं थी। अंत में सब स्त्रियां मन ही मन हंस कर 'वाहवा-वाहवा' कहा करतीं। कडाके की ठंड होने पर भी मुझे इस घटना से पसीना छूटा करता था। उस बडे अफसर का मृत्यु-गीत, मेरे ऊपर ऐसा भयंकर आघात करेगा, ऐसा भविष्य मेरे जन्म समय में या उस अफसर के मृत्यु समय में क्या कोई कर सकता था ?।

डॉ० स्काट के यहां रह कर यूनिव्हर्सिटी कॉलेज में अभ्यास करने के कारण इस बाई से कुछ दिनों तक मेरा मिलाप नहीं हुआ। बीच बीच में उसके पत्र मुझे बुलाने के लिये आया करते थे। यह बाई लंडन के एक उप नगर में रहा करती थी, परन्तु मृत्यु गीत के भय के कारण मैं उसके

निमंत्रण को स्वीकार नहीं करता था। अंत में एक दिन तार से निमंत्रण आया। मैं कॉलेज जा रहा था। रास्ते में ही यह तार मिला। विलायत से भी अब मैं शीघ्र जाने ही वाला था अतः इस बाई से मिलना उचित समझ उसका आग्रह पूर्ण निमंत्रण स्वीकार करने का निश्चय किया।

मैं कॉलेज गया। वहां का काम खत्म कर घर न लौट कर उस बाई के यहां जाने लिये के परभारे स्टेशन पर चला गया। यह दिन बडा भयंकर था। कडाके की ठंड पड रही थी। चारों और कुहरा छाया हुआ था। मुझे जिस स्टेशन पर जाना था वह आखरी स्टेशन था। इसलिये मैंने वहां पहुंचने के संबंध में पूछ पाछ करने की भी जरूरत नहीं समझी।

रास्ते में सब स्टेशनों के प्लेटफार्म दाहिनी बाजू की ओर पडते थे अतः मैं भी ट्रेन के डिब्बे में दाहिनी ओर एक कोने में बैठकर पुस्तक पढने में तल्लीन होगया। बाहर कुहरे के कारण इतना अंधेरा होगया था कि कुछ भी दिखलाई नहीं पडता था। एक के बाद एक मुसाफिर अपने अपने स्थान पर उतरने लगे। आखरी स्टेशन से एक स्टेशन पहिले जब हम पहुंचे तब वहां थोडी देर गाडी ठहरी और फिर चलने लगी। कुछ ही दूर जाकर गाडी फिर ठहर गई। परंतु आस पास कोई भी दिखलाई नहीं पडा। न दीपक न प्लेट फार्म। कभी कभी बे मौके गाडी ठहर जाने के कारण पूछने का भी मुसा-

फिरों को साधन नहीं रहता इसलिये प्रयत्न भी नहीं करते। अतः मैं फिर अपने पढने में लीन हो गया। देखता हूँ तो गाडी पीछे जा रही है। रेल्वे वालों के आश्चर्य जनक व्यवहार के प्रति कोई भी जवाबदार नहीं होता, यह समझकर मैं फिर पढने लगा। अब हम एक स्टेशन पीछे लौट आए। अब मुझे अपनी उदासीनता छोडना पडी और पूछना पडा कि अमुक स्टेशन को हमारी गाडी कब जावेगी। उत्तर मिला कि यह वहीं से लौट कर आ रही है। फिर पूछा कि अब यह गाडी कहां जा रही है। उत्तर मिला 'लंडन को'। अच्छा अब अमुक स्टेशन की गाडी फिर कब मिलेगी ?। उत्तर मिला रातभर गाडी नहीं मिलेगी। पूछ पाछ से यह पता चला कि पांच मील के फेरे में कोई ठहरने व खाने पीने की जगह नहीं है। मैं सुबह १० बजे खा पीकर घर से चला था। उसके बाद पानी तक मुँह में नहीं डाला था। जब भोग परिभोग के साधन का कोई दूसरा मार्ग नहीं रहता तब सन्यास वृत्ति धारण करने में मनुष्य को देर नहीं लगती। ओव्हर कोट के बटन लगाकर प्लेटफार्म के एक लालटेन के नीचे मैं बैठ गया। मेरे पास सद्यः प्रकाशित 'स्पेंशर' के नीति सिद्धान्त नामक एक पुस्तक थी। ऐसें विषय पर चित्त को एकाग्र करने का अवसर इस से बढकर दूसरा नहीं मिलेगा, यह सोचकर मैंने पढना आरंभ किया।

कुछ समय बाद एक मजदूर मेरे पास आया। और उसने कहा कि कुछ समय बाद एक विशेष ट्रेन यहां से जाने वाली है। वह आधे घंटे बाद आवेगी। यह सुनकर मुझे इतना हर्ष हुआ कि मैं पुस्तक आगे पढ ही नहीं सका। जहां मैं सात बजे पहुंचने वाला था, वहां ९ बजे पहुंचा। बाई ने पूछा 'रवि' तुझे इतनी देर क्यों हुई ? कहां ठहर गया ?। मुझे अपने साहस के संबंध में यद्यपि विशेष अभिमान नहीं था तोभी मैंने खुले मन से सब बातें साफ साफ कह दीं। मेरे पहुंचने के पहिले ही उन लोगों का खाना पीना हो चुका था।

कुछ देर बाद मुझे चाय पीने के लिये कहा गया। मैं चाय कभी नहीं पीता। परंतु भूख से इस समय व्याकुल हो रहा था। अतः दो बिस्किट और तेज चाय का एक प्याला किसी तरह गले के नीचे उतारा। फिर मुझे दीवान खाने में लेगये। वहां अनेक प्रौढ स्त्रियां एकत्रित थीं। एक अमेरिकन तरुण लडकी भी थी। मेरी परिचित बाई के भानेज से इसका विवाह ठहरा था। अतः विवाह के पहिले के प्रेम (Court ship) में वह मग्न सी दिख रही थी। बाई ने कहा आओ नाचें। यह कसरत करने योग्य मनःस्थिति मेरी इस समय नहीं थी। और न शरीर की स्थिति ही नृत्य के अनुकूल थी। परंतु कहा जाता है कि दुर्बल–स्वभाव व्यक्तियों के हाथ से ही अशक्य बातें पार पडती हैं। चाय

और बिस्किट पर क्षुधा का भार सौंपकर वर बधू के मनो-रंजन के लिये मुझे अपने से बहुत अधिक वय की स्त्रियों के साथ नाचना पडा ।

मेरी संकट परंपरा यहीं खतम नहीं हुई । संकटरूपी शिखर पर मानों कलश चढाने के लिये ही मुझसे पूछा गया कि रात्रि को तू कहां रहेगा ? । मैंने इसपर अभीतक विचार भी नहीं किया था । मैं सुन्न रह गया । एक भी शब्द न बोलकर बाई की ओर देखने लगा । तब वह कहने लगी कि यहाँ पास ही में एक पथिकाश्रम है । बह बारह बजे तक खुला रहता है । इसलिये अब देरी न करके तू वहाँ चला जा । वहाँ तेरे ठहरने का प्रबंध हो जायगा ।

मुझे झक मार कर जाने के लिये तैयार होना पडा । अन्यथा रात भर कहां निकालता । बाई ने इतनी दया की कि एक नौकर लालटेन देकर आश्रम बतलाने के लिये मेरे साथ कर दिया । पहले पहल तो मुझे यही मालूम हुआ कि आश्रम में भेजकर मेरे पर वडी कृपा ही की गई । पहुंचते ही मैंने खाने पीने के संबंध में पूछा । होटल के मैनेजर ने उत्तर दिया कि खाने की कोई चीज तैयार नहीं है । हां "पेय पदार्थ" मौजूद हैं । सोने के लिये जगह वतला दी गई। इस जगह की पथरीली फर्स ठंडी गार थी । वहां मुँह धोने की एक टूटी फूटी तस्तरी और पुराना पलंग पडा हुआ था ।

सुबह होते ही बाई ने मुझे फलाहार के लिये बुलाया। इस फलाहार की बात कुछ न पूछिये ! सारी चीजें बासी थीं। गई रात का बचा खुचा सामान था। अगर इन्हीं में से कल रात को मुझे कुछ सामान दिया होता तो किसी की कुछ हानि नहीं हुई होती। और न पानी में से बाहर निकली हुई मछली की तडफडाहट के समान मेरा नाच हुआ होता।

फलाहार हो जाने पर मुझ से कहा कि जिस बाई को गाना सुनाने के लिये तुझे बुलाया है वह बीमार हो गई है। इस लिये उस के कमरे के द्वारपर बैठकर तू उसे गाना सुना। जीने के नीचे मुझे खडा रख कर एक बंद दरवाजे की ओर इशारा कर के कहा गया कि उस कमरे में बाई पडी हुई है। मैंने उस अज्ञेय की ओर अपना मुँह कर के वही विहाग राग गाया। मेरे इस गायन का रोगी पर क्या परिणाम हुआ, इस के समाचार मुझे अभी तक नहीं मिले।

मुझे अपने इस दुर्बलता पूर्ण सौजन्य के प्रायश्चित्त में लंडन आकर बीमार पडना पडा। मैंने डा० स्काट की लड-कियों से इस महमान दारी का सब हाल कहा। तब उन्होंने कहा कि पूर्ण विचार के बाद तुझें यह मालूम होगा कि अंग्रेजी आतिथ्य का यह नमूना नहीं है किंतु हिंदुस्तान के अन्न का यह परिणाम है।

प्रकरण छब्बीसवां

लोकन पालित ।

यूनिव्हरसिटी कॉलेज के अंग्रेजी साहित्य संबंधी व्याख्यानों में मैं जाया करता था। उस समय "लोकन् पालित" मेरा सह पाठी था। यह मुझ से चार वर्ष छोटा भी था। आज जिस अवस्था में मैं यह 'जीवन-स्मृति' लिख रहा हूँ उसमें चार वर्ष का अंतर कुछ अधिक नहीं है। परंतु १७ और १३ का अंतर उस अवस्था में मैत्री के लिये बहुत अधिक माना जाता है। उस अवस्था में गंभीर वृत्तिका प्रायः अभाव रहता है। अतः लडके अपने बडप्पन का बहुत ज्यादह खयाल रखते हैं। परंतु हम दोनों में यह बात नहीं थी। बडप्पन के कारण हमारे आपस में कभी दुजायगी नहीं हुई। पालित मुझे अपने से किसी भी बात में कनिष्ठ मालूम नहीं होता था।

कालेज के पुस्तकालय में विद्यार्थी और विद्यार्थिनी पढने के लिये एक साथ बैठा करते थे। मन ही मन बोलने की यह जगह थी। हम अगर मन ही मन धीरे धीरे बातें करते तो किसी को कुछ बोलने की जगह नहीं रहती। परंतु मेरा मित्र पालित उत्साह से इतना भर जाता कि थोडी ही छेड छाड से उस की हँसी और उत्साह बाहर निकल पडता था। सम्पूर्ण देशों में अभ्यास की ओर लडकियों का लक्ष्य एक भिन्न प्रकार का ही होता है। अभ्यास करने में वे जरा

हठीली हुआ करती हैं। जब हममें इस तरह स्वच्छन्द रीति से हास्य विनोद होता तब उन लडकियों की नापसंदी दिखलाने वाली तिरस्कार पूर्ण आंखें हम पर पडतीं। आज उस बात का ध्यान आने पर मुझे पश्चात्ताप होता है। परंतु उस समय किसी के अभ्यास में विघ्न पडनेपर मुझे बिल्कुल सहानुभूति नहीं होती थी। मेरे अभ्यास में विघ्न पडनेपर परमेश्वर की कृपा से मुझे कभी कष्ट नहीं हुआ और न मन को कभी कोई चिंता ही हुई।

हमारे हास्य रस का प्रवाह सतत वहता रहता था। कभी कभी उसी में वाङ्मय विषयक वाद विवाद भी हम करते थे। मेरी अपेक्षा लोकन पालित का बंगाली साहित्य का व्यासंग कम था तो भी वह उस कमी को अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से पूरी कर देता था। हमारे विवादस्थ विषयों में बंगाली शुद्ध लेखन भी एक विषय था। यह विवाद प्रारंभ होने का कारण यह हुआ कि डा० स्काट की एक लडकीने बंगाली सिखाने के लिये मुझ से कहा। बंगाली वर्णमाला सिखाते हुए बडे अभिमान केसाथ मैंने उस से कहा कि बंगाली भाषा पद पद पर अपने निश्चित नियमों का टूटना कभी सहन नहीं करती। यदि परीक्षा के लिये घोक घोक कर हम लोगो को कंठस्थ न करना पडता तो अंग्रेजी वर्ण रचना की स्वच्छन्दता किस हास्योत्पादक स्थिति को पहुँचती, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु मेरा

यह गर्व ठहर नहीं सका। क्योंकि मुझे अंग्रेजी के समान बंगाली वर्ण रचना भी स्वतंत्र होने के लिये अधीर दिखलाई पडी। बंगाली वर्ण रचना की नियम–भंगता अभ्यास वश मेरे ध्यान में अब तक नहीं आती थी।

अब मैं बंगाली वर्ण रचना की अनियमितता में से नियम बद्धता ढूंढने का प्रयत्न करने लगा। इस कार्य में लोकन् पालित की जो कल्पनातीत सहायता मुझे मिली उस का मुझे बहुत आश्चर्य हुआ।

विलायत में रहते हुए युनिव्हर्सिटी कालेज के पुस्तकालय में होने वाले हास्य विनोद की खलबलाहट में जिस कार्य का उद्गम हुआ उसी का भारत के मुल्की खाते में कर्मचारी होकर लोकन् पालित के आने पर विस्तीर्ण प्रवाह बहने लगा। 'लोकन्' का उत्साह से भरा हुआ साहित्यिक आनंद, साहित्य संबंधी मेरे साहस रूपी बादवान को चालन देने वाला वायु ही था। ऐन तारुण्य में मैंने अपने गद्य और पद्य की गाडी पूरे वेग से छोड दी। और लोकन् की अवास्तविक स्तुति ने मेरे इस उत्साह को कायम भी रखा। क्षण भर के लिये भी वह मंद नहीं पडा। जहाँ 'लोकन्' होता वहाँ जाकर और उस के बँगले में रह कर गद्यपद्य की अनेक कल्पनातीत उडानें मैंने मारी हैं। कई बार शुक्र नक्षत्र की चांदनी डूबने तक हम लोग साहित्य और संगीत शास्त्र का ऊहा पोह करते रहते थे।

सरस्वती के चरण–तल में रहे हुए कमल पुष्पों में मैत्री का पुष्प संभवतः उसे अधिक पसंद होना चाहिये। कमल पुष्पों से भरे हुए सरस्वती के तट पर मुझे सुवर्ण पराग की प्राप्ति अधिक नहीं हुई। परंतु प्रेम पूर्ण मैत्री के मधुर सुवास की विपुलता के संबंध में मुझे कभी कोई शिकायत नहीं रही।

प्रकरण सत्तावीसवां.

भग्न हृदय।

विलायतमें ही मैंने एक दूसरे काव्य की रचना प्रारंभ करदी थी। विलायत से लौटते हुए रास्ते में भी उस की रचना का कार्य चालू रहा। हिन्दुस्थान में आने पर इस काव्य–रचना की समाप्ति हुई। प्रकाशित होते समय मैंने इस काव्य का नाम 'भग्न हृदय' रखा। लिखते समय मुझे मालूम हुआ कि यह रचना अच्छी हुई है। और लेखक को अपनी कृति उत्तम प्रतीत हो तो, इस में आश्चर्य भी कुछ नहीं है। यह काव्य मुझे ही सुंदर प्रतीत नहीं हुआ किंतु पाठकों ने भी इस की प्रशंसा की। इस के प्रकाशित होने पर टिपरा के स्वर्गीय नरेश के दीवान साहब स्वतः मेरे पास आये और मुझ से कहा कि आपके इस ग्रन्थ के संबंध में राजा साहब (टिपरा) ने यह संदेश भेजा है कि उन्हें आप का यह काव्य बहुत पसंद आया है। उन्हों ने कहा है कि

इस की जितनी प्रशंसा की जाय थोडी है। और भविष्य में लेखक बहुत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करेगा, ऐसा उन्हें विश्वास है। यह बात आज भी ज्यों की त्यों मुझे स्मरण है।

यह काव्य मैंने अपनी आयु के १८ वें वर्ष में लिखा था। आगे जाकर अपनी आयु के ३० वें वर्ष में इसी काव्य के संबंध में मैंने एक पत्र में जो कुछ लिखा उसे यहाँ उद्धृत करना मुझे उचित प्रतीत होता है।—

"जब मैंने भग्न 'हृदय नामक' काव्य लिखना प्रारंभ किया उस समय मेरी उम्र १८ वर्ष की थी। यह अवस्था न तो बाल्यावस्था ही मानी जाती है और न तरुण। यह इन दोनों अवस्थाओं का संधि-काल है। यह वय सत्य की प्रत्यक्ष किरणों से प्रकाशित नहीं रहती। इस अवस्था में सत्य का अस्तित्व प्रत्यक्ष न दिखलाई पडकर कहीं किसी जगह उसका प्रतिबिंब दिखलाई पडता है। और शेष स्थान पर केवल धुंधली छाया मात्र दिखती है। संधि-काल की छाया के समान इस अवस्था में कल्पनाएं दूर तक फैली हुईं, अस्पष्ट और वास्तविक जगत को काल्पनिक जगत के समान दिखलाने वाली रहती हैं।"

विशेष आश्चर्य की बात यह है कि उस समय मैं ही केवल १८ वर्ष का नहीं था किन्तु मुझे अपने आस पास

की प्रत्येक व्यक्ति १८ वर्ष की प्रतीत होती थी । हम सब एक ही आधार शून्य, स्वत्व रहित एवं काल्पनिक जगत में इधर उधर भटक रहे थे । जहां कि अत्यधिक आनंद और दुःख दोनों ही स्वप्न के आनंद और दुःख की अपेक्षा भिन्न नहीं मालूम होते थे । दोनों की तुलना करने का प्रत्यक्ष कोई साधन नहीं था। इससे बडी बात की अवश्यकता छोटी बात से पूरी की जाती थी ।

मेरी पंद्रह सोलह वर्ष की अवस्था से लेकर बावीस तेवीस वर्ष की अवस्था तक का काल केवल अव्यवस्थित रीति से ही व्यतीत हुआ । पृथ्वी के बाल्य काल में जल और भूमि एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न नहीं हुए थे । उस समय बालुका मय दल दल वाले अरण्यों में कोचर विहीन वृक्षों में से बडे बडे आकार के जलचर और थलचर प्राणी इधर उधर संचार करते रहते थे । इसी तरह आत्मा की अस्पष्ट बाल्यावस्था के प्रमाण शून्य विलक्षण आकार प्रकार के अप्रगल्भ मनोविकार, उक्त प्राणियो के समान आत्मा की मार्ग रहित अटवी में दूर तक फैली हुई छाया में भटकते रहते हैं । इन मनोविकारों को न तो अपने आप का ज्ञान रहता है और न अपने भटकने के कारणों का ही । वे केवल अज्ञान अथवा मूढता से भटकते रहते हैं । अपने निजी कार्यों का परिचय न होने से अपने को छोडकर दूसरी

बातों का अनुकरण करने की ओर उनकी (मनोविकारों की) साहजिक प्रवृत्ति होती है। इस अर्थ–शून्य–ध्येय रहित और क्रियाशील अवस्था में अपने ध्येय से अपरिचित होने के कारण उसे सिद्ध करने में असमर्थ बनी हुई मेरी अविकसित शक्तियां बाहर निकलने के लिये एक दूसरे से स्पर्धा करती थीं। इस अवस्था में प्रत्येक शक्ति ने अतिशयोक्ति के बल पर अपना प्रभुत्व मुझ पर जमाने का जोर शोर से प्रयत्न किया।

दूध के दांत निकलते समय बालक को ज्वर आया करता है। दांतों के बाहिर निकलकर अन्न पाचन के काम में सहायता देने तक होने वाली पीडा का कोई समर्थन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार अप्रगल्भ अवस्था के मनोविकार, वाह्य जगत से अपने वास्तविक सबंध का ज्ञान होने तक मन को कष्ट दिया करते हैं। उस अवस्था में मैंने स्वानुभव से जो बातें सीखीं वे यद्यपि नैतिक पुस्तकों मे भी मिल सकती हैं; परंतु इससे उन का मूल्य कम नहीं हो सकता। अपनी वासनाओं को अंदर ही अंदर बंद रखकर वाह्य जगत में उन्हें स्वच्छन्दता से संचार न करने देने वाली बातें हमारे जीवन में विष फैलाती हैं। इन में से स्वार्थ बुद्धि भी एक है। यह हमारी इच्छाओं को मन के मुताविक संचार नहीं करने देती। न उन्हें अपने वास्तविक ध्येय के नजदीक

जाने देती है। इसीलिये स्वार्थ रूपी भिलावाँ फूट निक--लता है और उससे असत्य, अप्रमाणिकता, और सब प्रकार के अत्याचार रूपी घाव हो जाते हैं। इसके विपरीत जब हमारी वासनाओं को सत्कार्य करने की अमर्यादित स्वतंत्रता प्राप्त होती है तब वे विकृति को दूरकर अपनी मूल स्थिति प्राप्त कर लेती हैं। और यही उनका जीवन--ध्येय अथवा अस्तित्व की वास्तविक आनंद दायक स्थिति है।

मेरे अपरिपक्व मन की ऊपर कही हुई स्थिति का उस समय के उदाहरणों एवं नीति तत्वों ने पोषण किया था। और आज भी उन का परिणाम मौजूद है। मैं जिस समय के सबंध में लिख रहा हूं उस पर दृष्टि फेंकने से मुझे यह बात ठीक प्रतीत होता है कि अंग्रेजी साहित्य ने हमारी प्रतिभा का पोषण न कर उसे उद्दीपित किया है। उन दिनों शेक्सपियर, मिल्टन और वायरन ये हमारे साहित्य की अधिष्ठात्री देवता बन रही थीं। हमारे मन को हिला देनेवाला यदि इन में कोई गुण था तो वह मनो--विकारों का आधिक्य ही था। अंग्रेजोंके सामाजिक व्यवहार में मनोविकारों की लगाम खींचकर रखते है। मनोविकार चाहे कितने भी प्रवल हों, पर उनका वाह्य आविष्करण न होने देने की ओर पूरा पूरा ध्यान रखा जाता है। शायद इसी लिये अंग्रेजी वाङ्मय पर मनो विकारों का इतना अधिक प्रभाव है कि अंग्रेजी साहित्य का

यह एक गुण ही बन गया है कि—उसमें से अनंत जाज्वल्य-मान मनोवृत्तियाँ अनिवार्य होकर भडकतीं और उन में से भयंकर ज्वालाऐं निकलने लगती हैं। मनोवृत्तियों का यह भयंकर क्षोभ ही अंग्रेजी साहित्य की आत्मा है। कम से कम हमारी तो यही धारणा थी और इसी दृष्टि से हम इस साहित्य की ओर देखना सीखे थे।

अक्षय चौधरी ने ही हमारे लिये अंग्रेजी साहित्य का द्वार खोला था। उन के अंग्रेजी के उत्साह पूर्ण और रसीले वर्णन में एक प्रकार का जादू था। उसमें बेहोश करने की शक्ति थी। रोमियो और जुलियट का प्रेमावेश, लियर राजा का शोक, अथेलो की सम्पूर्ण जगत को लील जानेवाली असूयाग्नि, आदि बातें हमें अंग्रेजी वाङ्मय की मन मानी प्रशंसा करने के लिये उद्यत करती थीं। हमारा सामाजिक जीवन-क्रम और उस का संकुचित कार्य-क्षेत्र स्थायी रहने वाली नीरसता के परकोटे से इस तरह घिरा रहता है कि उसमें जाज्वल्य मान मनोविकारों का प्रवेश हो ही नहीं सकता। जहाँ तहाँ शांतता का कल्पनातीत साम्राज्य फैला हुआ रहता है। इसी लिये हमारा हृदय, अंग्रेजी साहित्य की विकार पूर्ण भावनाओं की जाज्वल्यता प्राप्त करने के लिये तडफडा रहा था। अंग्रेजी साहित्य की यह मोहिनी हम पर वाङ्मय—कला के सौंदर्य का मन चाहा सेवन करने कारण नहीं पडी थी किंतु हमारे

उदासीन मन को कुछ न कुछ खाद्य चाहिये इस लिये हम उस मोहिनी में भूले हुए थे। जिन दिनों मनुष्य को डांट डपट कर दबाये रखने के विरुद्ध जोर से प्रत्याघात करने वाली विद्या और कला को पुनरुज्जीवित करनेका आन्दोलन यूरोप में शुरू हुआ उन दिनों के युद्धनृत्य का द्योतक सेक्सपियर के काल का अंग्रेजी साहित्य है। उन दिनों अपने जीवन की आंतरिक पवित्रता की प्राप्ति में प्रतिबंधक होने वाले शास्त्रों को फाड फैंकने की चिंता में मनुष्य प्राणी अपनी प्रखर वासनाओं की अंतिम प्रतिमा ढूंढने के बिचारों में तल्लीन होगया था। अतः अच्छा बुरा, और सुंदर कुरूप, को पहिचान ने का उसका हेतु नष्ट होगया था। यही कारण है जो उस समय के अंग्रेजी साहित्य में उपरोधिक और उच्छृंखल उद्गारों की रेलपेल दिखलाई पडती है।

यूरोप की इस प्रकार की विकार पूर्ण धूमधाम ने हमारे रूढिग्रस्त सामाजिक व्यवहारों में प्रवेश कर हमें जागृत किया और नवजीवन दिया। इस कारण प्रचलित रीति रिवाज के नीचे दबे हुए, परंतु अपने स्वरूप को प्रगट करने की संधि ढूंढने के लिये उत्सुक हमारे अन्तःकरण पर स्वच्छन्द जीवन-क्रम का प्रकाश पडा और उससे हमारे नेत्र चौंधिया गये।

अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में इसी प्रकार का और एक दिन आया था। उस समय पोप कवि की गंभीर और

व्यवस्थित रचना-पद्धति पिछड गई और उसके स्थानपर फ्रेंच राज्य--क्रांति कारकों के नृत्य के समान उच्छृंखल और मदोन्मत्त रचना शुरू हुई। ऐसी रचना का मूल प्रवर्तक वायरन था। इस के काव्यों की उत्तान-विकार-वशता से, घूंघट डालकर बैठी हुई हमारे मन रूपी वधू का अन्तःकरण भी खलबला उठा था।

इस प्रकार हाथ धोकर अंग्रेजी साहित्य के पीछे पडने से जो खल बली मची उसने उन दिनों के तरुणों के अन्तःकरण पर अपना प्रभाव जमा लिया। मेरे पर तो उसका प्रहार चारों ओर से हो रहा था। मनुष्य मूढावस्था से जब जागृत अवस्था में पहले पहल आता है तब उत्साह का पूर इसी प्रकार आया करता है। यही साहजिक स्थिति है। उत्साह रूपी जल का सूख जाना साहजिक अवस्था नहीं कही जासकती।

इतने पर भी हमारी स्थिति यूरोप की स्थिति से बिल--कुल भिन्न थी। वहां दासत्व के ज्ञान से उत्पन्न हुए क्षोभ और उससे मुक्त होने की अधीरता को इतिहास में स्थान मिल चुका था। उस पर से वहां के साहित्य में भी यह बातें प्रति-बिंबित हुई थीं। और साहित्य की इस आवाज का मनो भावना से संबंध हो चुका था। तूफान आया था इसीलिये उसकी गडगडाहट सुनाई दे रही थी। इस तूफान

के एक हलके से धक्के ने हमारा जगत भी क्षुब्ध कर डाला था। इस धक्के में भी वही ध्वनि थी परंतु इतनी बारीक थी कि उससे हमारा संतोष नहीं होता था। अतः हम झंझावात के महान झोंकों का अनुकरण करने लगे। हमारे इन प्रयत्नों का पर्यवसान सहजरीत्या अतिशयोक्ति में होगया। हमारे मन की यह रुख आज भी हमें खींचे बैठी है और इस से मुक्त होना कोई सरल बात नहीं है।

पूर्णत्व को पहुंची हुई कला में जो मुग्धता दिखलाई पडती है वह अंग्रेजी साहित्य में अभी तक नहीं आई। अंग्रेजी साहित्य की यह कमी हमारे उक्त विधान की साक्षी में पेश की जासकती है। साहित्य की साधन सामग्री नाना प्रकार की हुआ करती है। उनमें मानवीय भावना भी एक साधन ही है। वह अंतिम साध्य नहीं। परंतु अंग्रेजी साहित्य को अभी तक यह सिद्धांत पूर्णतया मान्य नहीं है।

बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक हमारा मन अंग्रेजी साहित्य के रंगढंग के साथ बढता रहता है। अंग्रेजी साहित्य का ही खाद और उसी का पानी। जिन यूरोपीय भाषाओं की ओर देखने पर हम कह सकते हैं कि वे अधिक उन्नत हैं, उन्हीं लेटिन ग्रीक आदि प्राचीन और फ्रेंच आदि अर्वाचीन भाषाओं का हम अभ्यास नहीं करते। इस पर से मेरा तो यह मत है कि साहित्य के वास्तविक ध्येय और उसकी योग्य कार्य पद्धति

के संबंध में आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने की अभी योग्यता भी हम में नहीं आ पाई है।

हमारे मन में अंग्रेजी साहित्य की अभिरुचि और उसके पठन पाठन की लालसा उत्पन्न करने वाले अक्षयबाबू स्वतः विकार पूर्ण जीवन के भक्त थे। मनो–भावना उत्पन्न होने की अपेक्षा उस भावना की सत्यता का प्रत्यक्ष अनुभव होना वे महत्व पूर्ण नहीं समझते थे। यही कारण था जो 'धर्म' के संबंध में तो उनमें बौद्धिक आदर नहीं था, परंतु 'श्यामा' (काली माता) के पद सुनने से उनकी आंखो में आंसू भर आते थे। फिर चाहे काली माता का सत्य स्वरूप किसी भी प्रकार का क्यों न हो। बात यह थी कि जो जो बातें उनके मन को विकृत कर सकती थीं वे वे बातें उन्हें उतने समय के लिये सत्य प्रतीत हुआ करती थीं। प्रत्यक्ष दिखलाई पडने वाली भूल का भी उन पर कोई प्रभाव नहीं होता था।

उस समय के अंग्रेजी गद्य साहित्य का "नास्तिकता" एक प्रधान लक्षण था। बेंथम, मिल, कोम्ट, यह उस समय के प्रसिद्ध और आदरणीय ग्रन्थकार थे। हमारे युवकों की सब दार मदार इन्हीं की विचार प्रणाली पर निर्भर थी। प्रायः उन्ही की युक्तियां लेकर हमारे युवक गण वाद विवाद किया करते थे। तत्ववेत्ता 'मिल' का युग अंग्रेजी साहित्य का एक स्वतंत्र 'काल विभाग' है। वह राजकीय पद्धति की

प्रति क्रिया का काल था। वर्षों से संचित हीन विचारों को निकाल फेंकने के ही लिये मिल, बेंथम, कोम्ट, आदि साहित्य वीरों का जन्म हुआ था। उन के ग्रन्थों में विध्वसंन शक्ति का काफी संचार था। हमने अपने देश में इस विध्वंसन शक्ति का पुस्तकीय ज्ञान के समान तो उपयोन कर लिया, परंतु व्यवहार में हमने उस के उपयोग का बिल्कुल प्रयत्न नहीं किया। अपने नीति-तत्वों के भारी जुएं को नीचे डाल देने का आवेश उत्पन्न करने के ही लिये हम उत्तेजक औषधियों के समान उसका उपयोग कर लिया करते थे। इसलिये उन्माद उत्पन्न करने के काम में इन नास्तिक भावनाओं का उपयोग हुआ।

इन कारणों से उस समय के सुशिक्षित लोगों के प्रायः दो भाग होगये थे। एक दल तो ऐसा था जो ईश्वरीय श्रद्धा को जड मूल से उखाड फेंकना चाहता था और सदा वाद-विवाद के शस्त्रास्त्र लिये बैठा रहता था। इसकी स्थिति पारधियों (शिकारियों) के समान थी। जिस प्रकार वृक्ष के ऊपर अथवा नीचे शिकार देखते ही शिकारी के हाथों में खुजली चलने लगती है उसी प्रकार ईश्वर पर विश्वास रखने वाले मनुष्य को देखते ही वे अपनी अस्तीनें ऊपर चढाने लगते थे। वे इस प्रकार के झूंठे विश्वास को नष्ट कर देना अपना कर्तव्य कर्म माना करते थे। और इसलिये ऐसे अवसरों पर हमारे इन वीरों में अधिक स्फूर्ति

आ जाया करती थी। वे वाद विवाद के लिये मौका ही ही ढूंढा करते थे। कुछ दिनों तक हमारे यहां भी घर पर पढाने के लिये ऐसे ही एक शिक्षक आया करते थे। उन्हें भी वाद विवाद अत्यंत प्रिय था। उन दिनों मैं बालक ही था, तो भी उनकी चंगुल से मैं छूट नहीं सका। वे कोई बडे विद्वान थे अथवा बडे उत्साह और प्रयत्नों के द्वारा कुछ वर्षों के अनुभव और श्रम से उन्होंने इस [ईश्वर के नास्तित्व] पर विश्वास किया हो, सो कुछ नहीं था। प्रत्युत वे केवल दूसरे लोगों के मत की पुनरुक्ति मात्र किया करते थे। हम दोनों की अवस्था में बहुत अंतर होने के कारण हम दोनों समान प्रतिस्पर्धी नहीं थे। तोभी मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति एकत्रित कर उन पर आक्रमण किया करता था। परंतु अंत में मुझे ही पराजित होना पडता। इससे मेरी जो मान हानि होती उसका मुझे अत्यंत दुःख होता और कभी कभी तो मैं रोने तक लगता था।

शिक्षितों का दूसरा दल भी ईश्वर के अस्तित्व को माननें वाला तो नही था पर धार्मिक बातों में मजा मानने वाला और चैन करने वाला था। ये लोग एक स्थान पर इकट्ठे होकर धार्मिक विधियों के बहाने आल्हाद कारक दर्शनीय वस्तुएं, कर्ण मनोहर ध्वनि, और इत्र आदि की सुगंध आदि बातों में मग्न हो जाते थे। पूजन की भर पूर सामग्री ये लोग इकट्ठी किया करते और उसीको सर्वस्व

समझ कर उसी में तल्लीन हो जाते थे। इन दोनों प्रकार के लोगों को ईश्वर के अस्तित्व में जो संदेह था वह परिश्रम पूर्वक तत्व-संशोधन करने के बाद उत्पन्न नहीं हुआ था। प्रत्युत वह दूसरों के मतों का अनुवाद मात्र था।

धार्मिक रूढियों का इस प्रकार अपमान होता देखकर मैं मनमें कुढा करता था। परंतु इस पर से मैं यह नहीं कह सकता कि उन बातों का मुझपर कोई प्रभाव बिलकुल नहीं हुआ। तारुण्य के साथ साथ बौद्धिक उन्मत्तता और उसीके साथ रूढियों को तोडने की प्रेरणा भी मेरे मन में उत्पन्न हुई। हमारे घर में जो उपासना हुआ करती थी उससे मेरा कुछ भी संबंध नहीं रहता था। मैंने अपने उपयोग के लिये उन्हें स्वीकार नहीं किया था। मैं अपने मनो विकार रूपी भट्टी से एक उंची ज्वाला उत्पन्न करने में तल्लीन हो रहा था। इसी ज्वाला को बढाने के लिये आहुति देने के सिवाय मेरा कोई ध्येय नहीं था। और मेरे परिश्रम के आगे कोई निर्दिष्ट ध्येय न होने के कारण उन परिश्रमों की कुछ सीमा भी निश्चित नहीं थी। यह एक नियम ही है कि नियत सीमा का सदा अतिक्रम हुआ करता है।

धर्म की जो दशा थी वही मेरे अन्तःकरण की वृत्ति की भी थी। जिस प्रकार धर्म के अस्तित्व अथवा नास्तित्व की इमारत के लिये मुझे सत्य के पाये की जरूरत नहीं मालूम

देती थी उसी तरह अन्तःकरण की वृत्ति के लिये भी सत्य--तत्वों के आधार की आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती थी। भावनाओं में क्षोभ होना अथवा उन का प्रज्वलित होना ही एक मात्र मेरा ध्येय था।

वास्तव में देखा जाय तो हृदय को इस प्रकार बेचैन होनेका कोई कारण नहीं है और न कोई बेचैन होने के लिये उस पर जबरदस्ती ही करता है। यद्यपि यह ठीक है कि कोई जान बूझकर अपने आप को दुःखी बनाना नहीं चाहता, परंतु दुःख की तीव्रता कम कर देने से वह भी रुचिकर मालूम देने लगता है। हमारे कवि, परमेश्वर की जिस उपासना में निमग्न होगये थे उस में उन्होंने ईश्वर को एक ओर रखकर दुःख में रहे हुए स्वाद को ही बहुत महत्व दे दिया है। और अभी तक हमारा देश इस अवस्था से मुक्त नहीं हो पाया है। परिणाम यह होता है कि जब हमें धर्म तत्वों के ढूंढने में सफलता नहीं मिलती तब हम धर्म संबंधी आचार विचारों पर ही अवलंबित रह जाते और उसी पर अपनी तृषा बुझा लेते हैं। मातृभूमि की सेवा भी हमारी धर्मपर रही हुई श्रद्धा के ही समान है। हमारे देशाभिमान संबंधी कई कार्यों को मातृभूमि की सेवा का रूप नहीं दिया जा सकता। वे तो हमारे मन की चाह को पूरा करने के के लिये अपने आप को प्रवृत्त करने की एक क्रिया मात्र हैं।

प्रकरण अट्ठावीसवां

यूरोपियन संगीत।

जब मैं ब्रायटन में था तब एक बार किसी संगीत नाटक में स्त्री-पात्र का गायन सुनने गया था। इस स्त्री का नाम मुझे अच्छी तरह स्मरण नहीं है। संभवतः उसका नाम मॅडम वेलसन अथवा अल्बनी था। इससे पहिले अपनी आवाज पर इस प्रकार का प्रभुत्व मैंने किसी में नहीं देखा था। हमारे यहां के अच्छे से अच्छे गवैये भी अपने आलाप संबंधी परिश्रम को प्रगट होने से रोकने में असमर्थ होते हैं। उन्हें देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि आलाप बिना परिश्रम के सहज रीति से लिया जा रहा है। वे निश्चित क्रम के विरुद्ध बिना कठिनाई के ऊंचा नीचा स्वर निकाला करते हैं। और जानकार लोगों को भी उसमे कोई हानि प्रतीत नहीं होती। क्योंकि हमारे यहां यह धारणा है कि ठीक ठीक राग रागिनी में बैठाई हुई चीज यदि उस राग रागिनी में गाई जाय तो आवाज के उतार चढाव या हाव भाव की न्यूनाधिकता का ऐसा कोई अधिक महत्व नहीं है। प्रत्युत कभी कभी तो यह मत भी प्रतिपादन किया जाता जाता है कि ऐसे तुच्छ दोषों के कारण तो उस चीज (गायन) की अंतरंग रचना अधिक प्रकाशमान हो जाती है। संभवतः इसी नियम के अनुसार वैराग्य के राजा महादेव के अंतरंग की महत्ता दिगंबर वृत्ति के कारण अधिक प्रकाशित होती होगी।

परंतु यूरोप में यह बात नहीं है। वहां तो बाह्य ठाठ बाट में जरा भी न्यूनता नहीं दिखलाई पडने देने की प्रवृत्ति है। तुच्छ से तुच्छ भूल पर भी वहां क्षमा प्रदान करने की पद्धति नहीं है। जरा चूके कि श्रोतृ समुदाय ने दिल्लगी उड़ाई। उस समय गानेवाले पर जो हवाईयाँ उडने लगती हैं वे देखने लायक होती हैं। हमारे यहां गाने की मजलिशमें तंबूरे या सारंगी के तार ठीक करने, तबला या मृदंग को हथोडी से ठोकने पीटने, आदि में यदि घंटा आधघंटा ले लिया जाय तो उसमें किसी को कुछ भी ऐतराज नहीं होता, परंतु यूरोप में यह सब बातें पहले ही ठीक ठाक करली जाती हैं। देखने वालों के आगे यह बाते नहीं होतीं। पर्दे के भीतर सब हो जाना चाहिये। देखने वालों के आगे तो जो कुछ भी किया जाय सब निर्दोष होना चाहिये, ऐसी वहां की प्रथा है। हमारे देश में राग ताल आदि संभाल कर ठीक ठीक गाना ही मुख्य ध्येय माना जाता है, परंतु यूरोप में सारा दारोमदार आवाज के उपर निर्भर है। वहां आवाज को कमाया जाता है। इसी लिये कभी कभी वे अशक्य प्रकार की आवाज भी निकाल सकते है। हमारे देश में हम गाना सुनने जाते है और ठीक ठीक राग में गाना सुनकर प्रसन्न होते हैं। पर यूरोप निवासी आवाज सुनने जाते हैं। वहां गानेको महत्व नहीं है किंतु कमाई हुई आवाज को है।

ग्रायटन में भी मैंने यही देखा। गाने और सरकस में मुझे कुछभी अंतर दिखलाई नहीं पडा। यद्यपि वहां उस गाने की मैंने प्रशंसा की थी, परंतु उस का स्वाद मुझे कुछ नहीं आया। कोई कोई आलाप तो मुझे पक्षियों की किलकारी के समान प्रतीत होता था। उस समय मैं अपनी हँसी नहीं रोक सकता था। मैं इसे मानवीय आवाज का दुरुपयोग समझता था। उस गायिका के बाद एक गवैये ने गाया। वह मुझे कुछ ठीक मालूम हुआ। उस गायन में मुझे मध्यम सप्तक का स्वर विशेष रुचिकर मालूम पडा क्यों कि वही कुछ मनुष्य की आवाज से मिलता जुलता था।

इस के बाद ज्यों ज्यों मैं यूरोपियन संगीत सुनने लगा त्यों त्यों उस का मर्म मुझे मालूम होने लगा। परंतु आज भी मेरी यही धारणा है कि यूरोप का संगीत और भारतीय संगीत एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। और वे दोनों एक ही मार्ग से जाकर हृदय तक नहीं पहुँच सकते।

यूरोपियन लोगों के आधिभौतिक व्यवहारों से उनका संगीत प्रायः एक मेक हो गया है। उनके नाना प्रकार के जीवन-व्यवहारों के समान गायन संबंधी विषय भी नाना प्रकार के हैं। परतु हमारे यहां यह बात नहीं है। यदि हम चाहे जिस विषय के गाने बनाकर अपनी राग रागिनी में गाने लग जांय तो उन रागों का प्रयोजन हीं नष्ट हो जायगा,

और वह एक हास्य जनक दशा होगी। इसका कारण यह है कि हमारी राग-रागनियां व्यवहारातीत हैं। नित्य नैमित्तिक व्यवहार उन्हें सार हीन मालूम होते हैं। इसीलिये वे (राग रागनियां) कारुण्य अथवा विरक्ति जैसी उदार भावनाओं को जन्म दे सकती हैं। उनका कार्य आत्मा के अव्यक्त, अज्ञेय और दुर्भेद्य रहस्य का चित्र तैयार करना है। हमारे रागों को गाते गाते गवैये का मन इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे फिर बनवास ही सूझता है। और संकट ग्रस्त मनुष्य समझने लगता है कि मेरी विन्ती से परमात्मा रीझ गया और मुझे प्राप्त हो गया है। हमारी राग रागनियों में ऐसी ऐसी भावनाओं को बहुत सुभीता प्राप्त है, और उनमें से इन्हीं का आलाप निकलता है। हां उसमें यदि किसी को स्थान प्राप्त नहीं है तो काम काज में गढे हुए, मात्र संसारी मनुष्य को।

मैं यह बात मंजूर नहीं कर सकता कि मुझे यूरोपियन संगीत के आंतरिक रहस्य का परिचय प्राप्त हो चुका है। यद्यपि मैं उसके हृदय में प्रवेश नहीं कर सका तो भी बाह्य रूप पर से मैं जो कुछ ज्ञान प्राप्त कर सका उसने मुझे एक बात में तो मोहित कर लिया है। यूरोपियन संगीत मुझे अद्भुत रस-प्रचुर मालूम हुआ। जिस कारण से मैंने यहां इस "अद्भुत रस प्रचुर" शब्द का उपयोग किया है उसका

स्पष्टीकरण करना कठिन है। मैं ज्यादह से ज्यादह यही कह सकता हूं कि यूरोपियन गायन के अमुक अमुक अंग हैं। बहु विधता, विपुलता, और संसार सागर की लहरों तथा अखंड रूप से आन्दोलित होने वाले पूर पर फैले हुए परिवर्तनशील प्रकाश और छाया, यह उसका एक अंग है। इसके साथ साथ दूसरा अंग है जो इससे सर्वथा भिन्न है। वह है—विस्तृत फैला हुआ आकाश, उसका नीला रंग, दूर पर दिखलाई पडने वाले क्षितिज की वर्तुलाकृति, और उसका चुपचाप विश्व की अनंतता की ओर इशारा। मेरे इस कथन में संदिग्धता का दोष भले ही हो पर मैं यह कह सकता हूं कि जब जब यूरोपियन गायन से मनोवृत्तियां चंचल हो उठती थीं तब मैं मन ही मन कहने लगता था कि "यह संगीत अद्भुत रस प्रचुर है, जीवन की क्षण भंगुरता को गायन में जमा रहा है।"

मेरा यह प्रयोजन नहीं है कि हमारे गायन में ऐसा प्रयत्न नहीं दिखलाई पडेगा। हमारे गायन के भी किसी भेद प्रभेद में इस प्रकार का प्रयत्न थोडे बहुत अंशों में दिखलाई पडेगा। अंतर इतना ही है कि हमारे यहां यूरोपियन संगीत के समान इन बातों को अधिक महत्व नहीं दिया गया। हमारे यहां इन बातों का वहुत कम उल्लेख है। और जितना भी उल्लेख किया गया है उसमें सफलता नहीं मिली

है । तारागणों के प्रकाश से प्रकाशित रात्रि में और सूर्य किरणों से आरक्त उषःकाल में हमारे राग गाये जाते हैं । मेघों की कृष्ण छाया में विलीन हो जाने वाले और संपूर्ण आकाश में फैले हुए दुःखों का और निर्जन वन में धव धव करके बहने वाले झरनों के निःशब्द और मोहित कर लेने वाले माधुर्य का कर्ण मधुर आलाप उसमें से निकला करता है ।

प्रकरण उन्तीसवां

वाल्मीकी--प्रतिभा !

मूर की आयरिश रागों की एक सचित्र पुस्तक हमारे पास थी । आनंद में बेहोश होकर अक्षय बाबू जब इन रागोंका छेडते तो मैं कई बार उन्हें बैठा बैठा सुना करता था । इस पुस्तक में कविताएं सचित्र थीं । इन चित्रों की सहायता से मैं अपने मन ही मन जादू के समान, प्राचीन आयर्लैंड का स्वप्न चित्र देखा करता था । उस समय तक मैं इन रागों को अच्छी तरह सुन नहीं पाया था । पुस्तक में जो सारंगी का चित्र था उसीके सहारे यह राग मैंने मन ही मन गाई थी । हां, मेरी उत्कट इच्छा जरूर थी कि आयर्लैंड की इन रागों को ठीक तौर से सुनूं, सीखूं, और फिर अक्षय बाबू को भी सुनाऊं । जीवन में कुछ इच्छाएं अपने दुर्दैव से पूरी

होतीं और पूरे होते होते ही नष्ट भी हो जाती हैं। विलायत जाने पर कुछ आयरिश रागों को सुनने का मुझे अवसर मिला। उन्हें मैंने सीखा भी। परिणाम यह हुआ कि मैंने जितनी रागें सीखीं उनसे ज्यादह सीखने का फिर उत्साह नहीं हुआ। यद्यपि यह ठीक है कि मेरे सीखे हुऐ राग सादे, प्रेमपूर्ण, मीठे, और करुण–रस–पूरित थे परंतु मैंने अपनी स्वप्न सृष्टि के द्वारा पुरातन आयर्लैंड के किसी दीवान खाने में जो गाने सुने थे उनसे इनका मेल नहीं बैठ सका।

जब मैं भारतवर्ष में लौट आया तो मैंने अपने मित्र मंडल को आयरिश गायन सुनाया। उसे सुनकर वे कहने लगे कि 'रवि' की आवाज कैसी हो गई ?। बडी विचित्र और विदेशी सी मालूम होती है।" मेरा स्वर भी उन्हें बदला हुआ मालूम पडा।

इस प्रकार देशी विदेशी गायन का मेरे में बीजारोपण हुआ। "वाल्मीकी प्रतिभा" नामक नाटिका इसी बीजारोपण का फल था। इस नाटक में बहुत से गायन भारतीय हैं, परंतु उनमें वह उदात्त रस नही है जो अनादिकाल से हमारे भारत में चला आ रहा है। गगन प्रदेश में ऊंचे ऊंचे चढकर उडने वाली वस्तुओं को इस नाटिका में पृथ्वीतल पर वलात् दौडया गया है। जिसने यह नाटिका देखी होगी या उसके गायन सुने होंगे, मुझे विश्वास है कि वह कभी उन

गायनों को भारतीय संगीत के लिये लज्जाजनक या निरुपयोगी नहीं समझेगा। देशी विदेशी गायनों का मिश्रण ही इस नाटिका का विशेष गुण है। राग रागनियों की शृंखला का मन माना उपयोग करने के उत्साह ने मुझे पागल बना दिया था। ' वाल्मीकी प्रतिभा ' के कुछ गायन पहले पहल शुद्ध भारतीय रागों में बनाये गये थे। इनमें से कुछ गायन मेरे भाई ज्योतिरिंद्र ने रचे थे। कुछ गायन युरोपियन राग में बनाये गये थे। भारत वर्ष में "तिल्लाना" राग का, नाटक में बहुत उपयोग किया जाता है। अतः इस नाटिका में भी इस राग का खूब उपयोग किया गया है। मदिरा के नशे में मस्त लुटेरों के गाने के दो पद हैं। इनके लिये अंग्रेजी राग उचित समझी गई। और बन देवता के शोकोद्गार प्रगट करने के लिये आयरिश राग का अच्छा उपयोग हुआ।

"वाल्मीकी प्रतिभा" केवल बांचकर समझने योग्य नाटक नहीं है। विना गाये या रंग भूमि पर बिना सुने उसके गायनों से कोई रस प्राप्त नहीं होता। यूरोपियन लोग जिसे "ऑपेरा" कहते हैं वह यह नहीं है। यह तो एक छोटासा पद्यमय नाटक है। प्रयोजन यह कि यह कोई काव्य नहीं है। काव्य दृष्टि से विचार करने पर इसके बहुत थोडे गायन महत्व पूर्ण या रमणीय मालूम होंगे। नाटक में संगीत का काम पूरा करना, इतना ही इसका उपयोग है, अधिक नहीं।

विलायत जाने के पहिले हम अपने घर पर समय समय पर साहित्य प्रेमी लोगोंके सम्मेलन किया करते थे। इन सम्मेलनों में गाना, बजाना, व्याख्यान देना, और फिर कुछ खाना पीना हुआ करता था। मेरे विलायत से आनेपर ऐसा एक ही सम्मेलन हुआ और वह आखरी ही था। इसी सम्मेलन में प्रयोग करने के लिये मैंने यह "वाल्मीकी प्रतिभा" नाटिका लिखी थी। इस के प्रयोग में मैंने "वाल्मीकी" का रूप धारण किया था और मेरी भतीजी 'प्रतिभा' ने सरस्वती का। इस प्रकार से उसका नाम नाटक के नाम से संलग्न हुआ है। हर्बर्ट स्पेंशर के एक ग्रन्थ में मैंने पढा था कि भाषण पर मनो विकारों का प्रभाव पडने पर उसमें से ताल स्वर अपने आप उत्पन्न होने लगते हैं। यह ताल स्वर भी शब्द के समान ही महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि प्रेम, द्वेष, दुःख, आनंद, आश्चर्य आदि विकारों को व्यक्त करने के लिये मनुष्य को अपनी आवाज में फर्क करना पडता है। और इस कला में उन्नति करते करते ही मनुष्य ने संगीत शास्त्र को ढूंढ निकाला है। हर्बर्ट स्पेंशर की इस कल्पना ने मेरेपर असर किया और मैं विचार करने लगा कि गद्य पद्य मय नाटक क्यों न तैयार किया जाय। हमारे कथ कार थोडे बहुत अंशों में यह काम किया करते हैं। वे विषय निरूपण करते करते बीचमें ही गाने भी लग जाते हैं। इस प्रकार के भाषण, पद्यमय भाषण कहे जा सकते हैं। इन में रागरागिनी, ताल वगैरह कुछ

नहीं होता । केवल स्वर बदलता रहता है । और तुक मिलाने पर ध्यान रखा जाता है । बेतुकी कविता, तुकवाली कविता की अपेक्षा अधिक ढीलीढाली होती है । परंतु इस प्रकार के भाषणों में तो तुक वाली कविता भी काफी ढीलीढाली हुआ करती है । वहाँ रागरागिनियों के कठिन नियम पालने अथवा ताल स्वर मिलाने का ख्याल नहीं रखा जाता । क्योंकि केवल मनोविकारों को व्यक्त करने का ही एक मात्र ध्येय रहता है । और उससे श्रोताओं को भी कुछ बुरा नहीं मालूम होता ।

बाल्मीकी प्रतिभा में जो इस प्रकार का नवीन उपक्रम किया गया था उस में सफलता भी प्राप्त हुई थी । इसीलिये फिर एक दूसरी नाटिका लिखी । इस का नाम था "काल मृगया" । रामायण में एक कथा है कि एक बार दशरथ राजा शिकार खेलने गये थे । वहां उन्होंने भूल से शिकार की जगह एक ऋषि के एक मात्र पुत्र को मार दिया । इसी कथा के आधार पर यह नाटिका लिखी गई थी । हमने अपनी छत पर एक स्टेज खडा करके इस नाटिका का प्रयोग किया । इसे देख कर प्रेक्षक लोग करुण रस के प्रवाह में बहने लगे । पीछे से इस नाटिका में कुछ परिवर्तन किये गये और इसका बहुत सा हिस्सा 'वाल्मीकी प्रतिभा' में शामिल कर लिया गया । अतएव यह नाटिका स्वतंत्र रूप से छपकर प्रकाशित न हो सकी ।

बहुत समय बाद 'माया का खेल' नामक एक तीसरी नाटिका मैंने लिखी। यह उक्त दोनों से एक भिन्नही प्रकार की थी। इसमें पद्यों को अधिक महत्व दिया गया था। पहिली दोनों नाटिकाओं में पद्यों के बगीचे में नाट्य प्रसंग की माला गूँथी गई थी और इसमें नाटिका के विधानक में पद्य पुष्पों की माला। इसका मुख्य ध्येय, अभिनय नहीं, भावना था। वास्तव में पूछा जाय तो मेरा मन यह नाटिका लिखते समय संगीत मय होगया था।

'वाल्मीकी प्रतिभा' और 'काल मृगया' ये दोनों नाटिकाएं लिखते समय मेरे में जो उत्साह था, वह दूसरी किसी भी पुस्तक लिखते समय मुझे अपने में प्रतीत नहीं हुआ। इसका कारण यही कहा जा सकता है कि ये दोनों नाटिकाएं उस समय के संगीत को उत्पन्न करने वाली प्रेरणा का दृश्य फल ही हैं।

नवीन बात को प्रचलित करने के आनंदातिरेक के कारण ही ये दोनों नाटिकाएं लिखी गईं। इनके लिखते समय गानों की शुद्धता अशुद्धता, राग रागनियों का देशी, विदेशीपन, आदि बातों पर ध्यान नहीं रखा गया। मैं तो उत्साह पूर्वक शीघ्रता के साथ इन्हें लिखता ही चला गया।

मैंने ऐसे बहुत से अवसर देखे हैं जिनपर मेरे लेख अथवा मेरे मत से बंगाली भाषा के पाठकों का मन व्याकुल

हो जाता था। परंतु यह आश्चर्य की बात है कि संगीत संबंधी रूढि-ग्रस्त कल्पनाओं को मेरे धैर्य पूर्वक धुतकार बता देने पर वे कुछ भी विचलित नहीं हुए। प्रत्युत मेरे नये तरह के गानों को सुनकर वे प्रसन्न हुआ करते थे। वाल्मीकी प्रतिभा में सब गाने मेरे स्वतः के बनाये हुए नहीं हैं। कुछ गाने अक्षय बाबूने भी बनाये थे। और कुछ 'विहारी चक्रवर्ती' की 'शरद मंगल माला' के पद्यों के रूपांतर हैं।

इस पद्यमय नाटिका का प्रयोग करके दिखाने में मेरा ही मुख्य अंग था। बाल्यावस्था से ही अभिनय की ओर मेरी अभिरुचि थी। और इसी ओर मेरा विशेष ध्यान भी था। मैंने अपनी इस अभिरुचि की सकारणता प्रमाण पूर्वक सिद्ध कर दी है। इससे पहिले मैंने सिर्फ एक ही बार अपने भाई ज्योतिरिंद्र के लिखे हुए एक प्रहसन के अभिनय के समय 'अलील बाबू' का पार्ट लिया था। इसलिये 'वाल्मीकी प्रतिभा' का अभिनय मेरे लिये करीब करीब नया ही प्रयोग था। उस समय मैं बहुत ही छोटा था। इसलिये मुझे कोई कष्ट नहीं मालूम हुआ।

उन दिनों हमारे घरमें संगीत का झिरना ही बह रहा था। उसके आस पास उडने वाले तुषार विंदु हमारे अंत रंग में इन्द्र धनुष के रंग के समान सप्त स्वर प्रतिबिंबित किया करते थे। जब हमने तरुणावस्था में प्रवेश किया तब एक

प्रकार का नवीन उत्साह उत्पन्न हुआ। और उसमें "जिज्ञासा" ने और भी वृद्धि की।

चारों ओर से नये नये मार्ग सूझने लगे। प्रत्येक बात का अनुभव प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करने की इच्छा होने लगी। हमें कोई भी बात असंभव नहीं दिखलाई पडती थी। कोई भी काम हाथ में लेने पर उसमें सफलता सामने खडी दिखती थी। लिखते, गाते, अभिनय करते, उत्साह ही उत्साह का पूर आ गया था! ऐसी दशा में मैनें बीसवें वर्ष में प्रवेश किया।

हमारे जीवन रूपी रथ को इतनी सफलता के साथ दौडाने वाले सामर्थ्य रूपी घोडों का मेरा भाई ज्योतिरिंद्र सारथी था। वह किसी से भी डरने वाला न था। यह भी कहा जा सकता है कि इसके कोश में भय नामक शब्द ही नहीं था। मैं बाल्यावस्था में कभी घोडे पर नहीं बैठा था। एक बार उसने अपने आगे मुझे घोडे पर बिठला कर उसे खूब दौडाया। उस समय मुझे किसी प्रकार का डर नहीं मालूम हुआ। इन्हीं दिनों हम अपनी जमींदारी के मुख्य स्थान 'शेलिडा' में थे। वहां आसपास 'शेर' लगने के समाचार आये। फिर ज्योतिरिन्द्र के उत्साह का क्या पूछना ?। उसने तुरंत ही शिकार के लिये जाने की तैयारी की। मुझे भी अपने साथ ले लिया। मेरे पास बंदूक नहीं थी। पर

यह अच्छा ही था। क्योंकि वह सिंह की अपेक्षा मेरे ही लिये अधिक भयदायक होती। जंगल के पास पहुंचकर हमने अपने जूते उतारे और नंगे पांव जंगल में घुसे। अंत में बांस के एक जाले में हम घुसे। उसके बीच की कटेली शाखाएं नष्ट हो गई थीं, इसलिये हमारे खडे होने योग्य उसमें जगह थी। अपने भाई के पीछे मैं खडा हो गया। यदि उस हिंस्र पशु ने मुझ पर अपने प्राण घातक पंजों का प्रहार किया होता तो उसे मारने के लिये मेरे पास जूते तक नहीं थे!

इस प्रकार मेरे भाई ने मुझे अंतर्बाह्य स्वतंत्रता दे रखी थी। किसी भी भय दायक कार्य में वह मेरी सार संभाल नहीं करता था। मैं चाहे जो करने में स्वतंत्र था। कोई भी रूढि उसे अपने बंधन में नहीं बांध सकती थी। वह बडा साहसी था। इसीलिये वह मेरा डरपोंकपन और अपने संबंध का अविश्वास दूर करने में पूर्ण समर्थ था।

प्रकरण तीसवां

संध्या-संगीत।

जिस समय का मैं विवरण लिख रहा हूं, उन दिनों मैं कविता लिखने में व्यस्त हो रहा था, और बहुत सी कविताएं लिख डाली थीं। "मोहित बाबू" ने मेरी जो फुटकर

कविताएं प्रसिद्ध की हैं इनमें ये कविताएं "हृदय वन" के नाम से संग्रहीत हैं। 'प्रभात–संगीत' के नाम से मेरी जो कविताएं प्रसिद्ध हुई उनमें एक कविता है, उसी कविता पर से "हृदय-वन" नाम रखा गया था।

बाह्य जगत से मेरा संबंध था ही नहीं और इस कारण मैं उससे पूर्णतया अपरिचित था। अपने ही हृदय के चिंतन में मैं निमग्न हो गया था। कारण रहित मनोविकार और ध्येय रहित आकांक्षा इन दोनों के बीच में मेरी कल्पना संचार किया करती थी। ऐसी अवस्था में मैंने जो कुछ रचना की उसमें से बहुत सी रचनाएं 'मोहित बाबू' द्वारा प्रकाशित पुस्तक में नहीं छापी गई। इस पुस्तक में 'संध्या संगीत' इस शीर्षक से प्रकाशित कविताओं में से थोडीसी कविताएं 'हृदय-वन' नाम से उध्दृत की गई हैं।

मेरे भाई ज्योतिरिंद्र और उनकी धर्म-पत्नी एक वार लंबे प्रवास को गये थे। उस समय उनके कमरे, मय सामने की गच्ची के खाली पडे थे। मैंने इन्हें अपने कब्जे में ले लिया। और एकांत में अपना समय व्यतीत करने लगा। उस समय अपने आप की ही संगति मुझे प्राप्त थी। ऐसी अवस्था में भी मैं अपने परंपरागत और आज तक चले आये हुए काव्य रचना के व्यवसाय से क्यों पराङ्मुख हो गया? यह बतलाने में मैं असमर्थ हूं। संभव है कि जिन्हें मैं प्रसन्न करना

चाहता था और जिनकी काव्य रुचि के अनुसार मेरे विचारों का रूप घडा गया था उनसे पृथक् हो जाने के ही कारण उनके द्वारा लादे हुए काव्य-रचना-व्यवसाय से भी मैं परावृत्त हो गया होऊँ ?

काव्य-रचना के लिये उन दिनों मैं सिलेट पट्टी का उपयोग किया करता था। काव्य-रचना के संबंध से मुक्त होने में मुझे इन चीजों की भी सहायता हुई। पहिले मैं अपनी कविता जिस पोथी में लिखा करता था, संभवतः उसे कवि (मेरी) कल्पना की उडान पसंद थी। तभी उस पोथीको प्रसन्न करने के लिये, दूसरों से अपनी तुलना करते हुए मैं काव्य रचना किया करता था। परंतु इस समय की मेरी मनः स्थिति के योग्य सिलेट पट्टी ही थी। इस समय मुझे मालूम होता था कि सिलेट पट्टी मुझसे कह रही है—"अरे डरता क्यों है ? जो मन में आवे सो लिख ? एकबार हाथ फिराया कि साफ ! डरने का कोई कारण ही नहीं है।"

इस प्रकार बंधन मुक्त होने पर मैंने खुले मन से एक दो कविताएं बनाईं। उनसे मुझे भीतर ही भीतर बडा संतोष हुआ। और मेरा हृदय कहने लगा कि "मैं जो कुछ रचता हूं वह मेरा है।" इसे कोई आत्मश्लाघा न समझें। वास्तव में तो मुझे अपनी पहिली कृतियों का ही अभिमान था। उन कृतियों से उऋण होने के लिये मेरे पास सिवाय अभिमान

के दूसरा था ही क्या ?। अपने आप का परिचय हो जाना कुछ कृतकृत्यता नहीं है। पहिले बालक के जन्म पर माता पिताओं को जो आनंद होता है वह उसके जन्म के कारण नहीं, प्रत्युत वह बालक उनके हाड़ मांस का होता है इसलिये आनंद होता है। और आगे जाकर वह बालक यदि कोई अलौकिक व्यक्ति निकला तो उसके लिये भी उन्हें अभिमान जरूर होता है, परंतु वह दूसरे प्रकार का होता है। काव्य रूपी अपनी कृति के संबंध में मेरी भी यही दशा थी।

इस समय अपनी कविता के श्रेष्ठत्व जन्य आनंद के कारण मैं यमकों की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देता था। जिस प्रकार कोई कोई जल प्रवाह सीधा न बहकर सर्पाकृति के समान टेढा तिरछा बहता है उसी प्रकार मेरे कवित्व के प्रवाह की भी दशा थी। इस से पहिले मैं यमक हीन काव्य रचना को अपराध समझा होता, पर अब उसमें मुझे कोई हानि नहीं मालूम होती थी। स्वतंत्रता पहिले नियमों को नष्ट कर नवे नियम बनाती है। और यह नवे नियम ही उसे (स्वतंत्रता को) सच्चे स्वराज्य की छत्र छाया में लाते हैं।

छंद संबंधी नियमों की अवहेलना कर के मैं मन मानी तौर पर रचना किया करता था। ऐसी अनूठी कविता सुनने के लिये मुझे उन दिनों एकही श्रोता मिले थे। वे थे हमारे पूर्व परिचित अक्षयबाबू। उन्हें मेरी कविता पहले पहल सुनने

पर जितना आनंद हुआ उतना ही आश्चर्य भी। वह मेरी स्तुति करने लगे। इस से मेरा उत्साह दूना बढ़ गया। और मेरी स्वतंत्रता का संकुचित मार्ग अब और विस्तृत हो गया।

बिहारी चक्रवर्ती की कविताएँ 'तिरताल' राग में थीं। 'द्विताला' की अपेक्षा इस 'तिरताला' का परिणाम एक भिन्न ही प्रकार का हुआ करता है। यह बहुत सहज रीतिसे गाया जा सकता है। किसी समय मुझे यह राग बहुत पसंद थी। इसे सुनते समय ऐसा मालूम होता है कि मानों अपन पैदल न चलकर साईकल पर दौडे जा रहे हैं। मुझे इस चाल की ही आदत पड़ गई थी। पर न जाने क्यों "संध्या संगीत" की रचना के समय मुझे यह आदत छोड देनी पडी। इस से कोई यह न समझ ले कि इस छंद के बंधन में मैं जकड़ गया होऊँगा। मैं फिर कोई खास तरह के छंद के बंधन में नहीं पड़ा। 'संध्या संगीत' की रचना के समय मैं अपने आप को स्वतंत्र और बे पर्वाह समझने लगा। रूढि परंपरा को छोडकर एक नये मार्ग से चलने के कारण कोई अपनी समालोचना करेगा इस की मुझे न तो कल्पना ही हुई और न भय ही मालूम पड़ा।

रूढि के बंधन से मुक्त होकर रचे हुए काव्य से मुझ में जो शक्ति उत्पन्न हुई उस से मैं यह समझने लगा कि मेरे में जिस चीज का संग्रह था वह मैं दूसरी ही जगहों पर

ढूंढता फिरता था। अपना स्वत्व प्राप्त करने के मार्ग में अपने सामर्थ्य के प्रति अविश्वास के सिवाय दूसरी कोई बात बाधक नहीं होती। अपनी आत्मा को शृंखला रहित देख कर मैं अपने आप को गुलामी के स्वप्न से जागृत समझने लगा। और अपनी इस स्वतंत्रता का विश्वास करने के ही लिये मैं काव्य क्षेत्र में लंबी लंबी और ऊँची ऊँची उडान मारने लगा।

मेरे काव्य रचना काल का यह भाग मैं अत्यंत स्मरणीय समझता हूं। काव्य दृष्टि से शायद मेरे रचे हुए 'संध्या संगीत' हीन दृष्टि के मालूम होंगे और वास्तव में देखा जाय तो उनका रूप है भी ऐसा अटपटा ही। उन के छंद, उनकी भाषा, अथवा विचार, किसी को भी निश्चित रूप प्राप्त नहीं हुआ है। पर उन में एक विशेषता है, वह यह कि मेरे मन में जो कुछ था वह मैंने अपने मन माने ढंग से उन में पहले पहल लिखना प्रारंभ किया। उन कविताओं का मूल्य भले ही कुछ न हो पर मैंने अपनी मनोभावनाओं को अपने इच्छानुसार जो शाब्दिक रूप दिया, उस से मुझे होने वाला आनंद तो कहीं नहीं गया है।

प्रकरण इकतीसवाँ।

'संगीत' पर निबंध।

जब मैं विलायत में था तब मेरा विचार बेरिस्टरी पढ़ने का था। इतने ही में पिताजी ने मुझे वापिस बुला

लिया। मैं लौट आया। विचार पूर्वक निश्चित किया हुआ कार्य बीच में ही छोड़ देना कुछ मित्रों को बहुत अखरा। और वे मुझे फिर एक बार विलायत भेजने के लिये पिताजी से आग्रह करने लगे। इन के आग्रह का परिणाम भी हुआ। मैं फिर अपने एक रिश्तेदार के साथ विलायत जाने के लिये घर से निकला। मेरा भाग्य वकील बनने के इतने विरुद्ध था कि पहिले तो मैं विलायत पहुंच भी गया था और कुछ दिन वहां रह भी आया था, परंतु इस बार तो विलायत पहुंच भी नहीं सका। कुछ कारणों से हमें मद्रास से कलकत्ता वापिस लौट आना पडा। इसमें संदेह नहीं कि लौटने का कारण कोई बडे महत्व का नहीं था। तो भी हमारे इस व्यवहार पर कोई हँसा नहीं। इसीलिये मैं यहां यह कारण बतलाने की जरूरत नहीं समझता। लक्ष्मी के दर्शनों के लिये वकील बनने का मैंने दो बार प्रयत्न किया परंतु दोनों ही बार मुझे असफल होना पडा। मुझे विश्वास है कि लोग भले ही इस पर कुछ कहें पर न्याय देवता मुझ से रुष्ट न होगी। वकील बनकर उनकी लायब्रेरी में एक और अधिक वकील की जो मैं बिना कारण बढती करता वह नहीं हुई, इस पर वह मेरा ही पक्ष लेगी। और मेरी ओर कृपा पूर्ण दृष्टि से देखेगी।

उस समय मेरे पिताजी मसूरी पर्वत पर गये हुए थे। मैं भी डरते डरते उनके पास गया। परंतु उन्होंने नाराजी

के कोई चिन्ह नहीं बतलाये। प्रत्युत ऐसा मालूम हुआ कि जो कुछ हुआ उसे वे ठीक ही समझते हैं। संभवतः मेरे लौटने में वे जगन्नियंता का कोई उत्तम हेतु ही समझते होंगे।

'बेथुन सोसायटी' की प्रार्थना से मेडीकल कालेज के हाल में मैंने विलायत जाने के पहिले दिन एक निबंध पढा था। इस प्रकार का यह मेरा पहिला ही प्रयत्न था। 'रेव्ह-रेंड के० एम्० बनर्जी' सभापति थे। निबंध का विषय 'संगीत' था। इसमें वादन के संबंध में कोई विचार नहीं किया गया था। इस निबंध में मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि शब्द के सच्चे अर्थ को उत्तम रीति से प्रगट करना ही गायन का अंतिम ध्येय है। इस निबंध में अपने विषय का प्रतिपादन बहुत संक्षेप में किया गया था। अपने विषय को विशद करने के लिये प्रारंभ से अंत तक मैंने अभिनय युक्त गाने गा गा कर सुनाये। अंत में सभापति ने अपने भाषण में मेरी प्रशंसा की। संभवतः इसके कारण, मेरी मीठी आवाज, विषय प्रतिपादन संबंधी मेरी उत्सुकता, और उदाह-रण के लिये अनेक प्रकार के गायनों को चुनने में किया हुआ परिश्रम, येही होंगे। परंतु आज मुझे स्पष्ट रीति से यह स्वीकार करना चाहिये कि उस दिन इतनी उत्सुकता से प्रतिपादन किया हुआ मत भ्रम पूर्ण था।

गायन कला का कार्य और स्वरूप एक विशेष प्रकार का है। जब गायन को शब्द का रूप दिया जाता है तब

शब्दों को अपनी मर्यादा छोडकर अपने को विशेष महत्व शाली न समझ लेना चाहिये। वे माधुर्य उत्पन्न करने के केवल साधन मात्र हैं, गायन के ध्येय नहीं। इसलिये उन्हें गायन का महत्व कम करना उचित नहीं है। गायन में अपरिमित माधुर्य संचित है। उसे शब्द पर अवलंबित रहने की आवश्यकता भी नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो जहाँ शब्द की पहुँच नहीं है, वहीं गायन के कार्य का प्रारंभ होता है। अज्ञेय बातों को विशद करके प्रगट करने की शक्ति गायन में है। हम शब्दों के द्वारा जो बात प्रगट नहीं कर सकते, गायन के द्वारा वही बात विशद कर सकते हैं।

इसलिये गायन पर शब्द का भार जितना कम पडे, उतना ही अच्छा है। हिन्दुस्थानी गायन में शब्द को बिल्कुल भी महत्व नहीं दिया गया है। राग रागनियों को पूरी स्वतंत्रता प्राप्त है। जब स्वतंत्रता पूर्वक वढने के लिये राग रागनियों को अवसर दिया जाता है, तभी वे अपने चमत्कार जन्य क्षेत्र में हमारी आत्मा को मुग्ध बना डालती हैं, और गायन को पूर्णत्व तक पहुँचा देती हैं। बंगाली में इससे उल्टा हुआ है। यहां शब्दों को अधिक महत्व दिया जाता है। इस कारण गायन अपनी शक्ति का विकाश नहीं कर पाता। और इसीलिये हमारा संगीत अपनी कविता-भगिनी का दास होकर बैठा है। पुरातन वैष्णव कवियों की कविता से लेकर आज

कल के 'विधूबाबू' की कविता तक ने शब्दों के द्वारा अपना सौंदर्य प्रगट किया है। इतना होते हुए भी, जिस प्रकार हमारी समाज में स्त्री, पुरुष का स्वामित्व स्वीकार कर-के भी अपना प्रभुत्व जमाती है, उसी प्रकार काव्य का दासत्व स्वीकार करने पर भी संगीत काव्य पर अपना प्रभुत्व जमाता ही है। अपनी कविताओं को रचते समय मुझे सदा यह बात ध्यान में आती रही है। एक बार अपने मन में गुनगुनाते हुए जब मैंने कविता रची तब मेरे ध्यान में यह आया कि 'राग' की सहायता से जिस अज्ञात स्थान तक शब्द पहुँच सकते हैं, उस स्थान तक वे अपने सामर्थ्य के बल नहीं पहुँच सकते। 'राग' के कारण मुझे यह मालूम हो गया कि मैं जिस रहस्य को जानने के लिये इतना उत्सुक था वह रहस्य, जंगल के मैदानों की हरि-याली में मिला हुआ है, चाँदनी रात की निस्तब्धशुभ्रता में विलीन हो गया है, विस्तृत नीले आकाश के बुरखे में से क्षितिज को झुक झुक कर देख रहा है, और पृथ्वी जल व आकाश से एक मेक होकर परस्पर में पूर्ण परिचित हो गया है।

अपनी बाल्यावस्था में मैंने किसी पद का एक चरण सुना था। उस एकही चरण ने मेरे मन में इतने चमत्कार पूर्ण चित्र बनाये कि वह चरण आज भी मेरे मन में घुल रहा है। एक दिन मैं गायन बना रहा था। उसके स्वर को मन

में जमाते हुए मैंने उसी चरण की समस्या पूर्ति कर डाली। यदि उस मूल पद्य के स्वर का साथ न मिला होता तो कविता को कौनसा स्वरूप प्राप्त हुआ होता, यह नहीं कहा जा सकता। परंतु उन ताल सुरों ने मुझे सौंदर्य के प्रभा मंडल से घिरी हुई उस अज्ञात व्यक्ति के दर्शन करा दिये। मेरा आत्मा मुझसे कहने लगा कि वह (रमणी) गहन गूढता के सागर के उस पार से इस जगत को समाचार पहुँचाया करती है। वही आती जाती रहती है। ओस पडे हुए शरद ऋतु के प्रभात समय में अथवा वसंत ऋतु की सुगंधित रात्रियों में हमारे हृदय के अंतर तम प्रदेश में जो कभी कभी अचानक दिखलाई पडती है, वही यह व्यक्ति है। उस सुन्दर स्त्री का गायन सुनने के लिये हम कभी कभी आकाश में उडान मारा करते हैं। इस परकीय भुवन मोहिनी के दरवाजे तक ताल सुर मुझे उडाते हुए ले गये। और इसलिये उस चरण के सिवाय शेष शब्द भी उसी को उद्देश्य करके लिखे गये।

इस के कई वर्षों बाद बोलपुर के एक रास्ते में एक भिखारी गाना गाता जा रहा था। उस समय भी मुझे यही मालूम हुआ कि यह भिखारी भी उसी बात की पुनरुक्ति कर रहा है। अज्ञात पक्षी (अंतरात्मा) लोहे के पींजरे में बंद होकर भी अमर्यादित और अज्ञेय बातों को गुन गुनाया करता है। हृदय, ऐसे पक्षी को सदा के लिये अपने निकट रखना

चाहता है; पर हृदय में ऐसी शक्ति कहां ?। उन अज्ञात पक्षियों के आने जाने की बात, भला, सिवाय ताल सुरों के कौन कह सकता है ?।

केवल शब्दों से भरी हुई संगीत कला की पुस्तक प्रकाशित करने से मुझे जो बहुत कष्ट होता है, उस का यही कारण है। ऐसे पदों में सरसता आना संभव ही नहीं है।

प्रकरण बत्तीसवां

नदी किनारे।

दूसरी बार विलायत जाते समय मुझे रास्ते से लौटना पडा। उस समय मेरे भाई ज्योतिरिंद्र अपनी पत्नी सहित चंद्र नगर में नदी के किनारे पर रहते थे। लौटने के बाद मैं उन्ही के पास रहने चला गया। अहा हा! फिर गंगा नदी!! दोनों तटों पर वृक्षों की पंक्ति, उन की शीतल छाया में से बहती हुई गंगा नदी का जल प्रवाह, और उस प्रवाह के कल कल नाद से मिला हुआ मेरा स्वर। उस ससय इष्ट प्राप्ति न होने के कारण मैं दुखी था, परंतु साथ ही आनंद दायक वस्तुओं के उपभोग के कारण थका हुआ था। मेरी दशा अनिर्वचनीय थी। रात्रि के समय बंगाल प्रदेश का प्रकाश मान आकाश, दक्षिण की वायु, गंगा नदी

का प्रवाह, किसी राजा में दिखलाई पडे ऐसी सुस्ती, एक ओर के क्षितिज से लेकर दूसरी ओर के क्षितिज तक तथा हरी हरी भूमि से लेकर नीले आकाश तक फैला हुआ निकम्मापन, यह सब बातें भूखे प्यासे के लिये अन्नपानी के समान मेरे लिये थीं।

इस बात को कुछ बहुत वर्ष नहीं बीते। परंतु 'काल' ने कितने ही परिवर्तन कर डाले हैं। नदी तट पर उस वृक्ष-राजी की शीतल छाया में बनी हुई हमारी झोंपडियों के स्थान पर अब मिलें खडी होगई हैं। वे विकराल राक्षस के समान सूं सूं करती हुईं अपना मस्तक उंचा किये खडी हैं। आज कल की रहन सहन रूपी दुपहरी की चकचकाहट में मानसिक विश्रांति का समय नष्ट-प्राय अवस्था को पहुँच चुका है। उस स्थान पर अनंत मुखवाली अशांतता ने चारों ओर से आक्रमण कर रखा है। कोई इसे भले ही हमारे कल्याण की बात समझे पर मैं तो यह किसी भी अंश में स्वीकार नहीं कर सकता। कोई कुछ भी कहे पर मेरा तो यही मत है।

पवित्र गंगा नदी में देवता पर से उतरे हुए निर्माल्य कमल पुष्पों के बहने के समान मेरे दिन सर सर निकल गये। मुझे ऐसा मालूम होने लगा मानो गंगा नदी में निर्माल्य कमल पुष्पों का ढेर ही बहा जा रहा है। वर्षाऋतु में दुपहर के

समय प्राचीन वैष्णव पद अपने ताल सुर में गाते और हार्मो-नियम बजाते हुए किसी भ्रमित व्यक्ति के समान मैंने कुछ दिन व्यतीत किये। हम लोग कभी कभी तीसरे पहर नाव में बैठकर नदी में घूमा करते थे। उस समय मैं गाता और ज्योतिरिन्द्र सारंगी बजाता था। पहिले 'पूरवी' राग में गाना शुरू करते, फिर ज्यों ज्यों दिन ढलता जाता त्यों त्यों राग भी बदलती जाती; और अंत में 'बिहाग' राग छेडते। उस समय पश्चिम दिशा अपने सुनहरी खिलौने की दुकान का दरवाजा बंद करती और वृक्षों की पंक्ति पर चन्द्र का उदय होता हुआ दिखलाई पडता।

फिर हमारी नाव उद्यान-गृह के घाटपर आकर लगती। उद्यान-गृह की गच्ची पर जाजम डाल कर हम नदी की ओर देखा करते थे। उस समय पृथ्वी और जल-पर सर्वत्र रुपहरी शांतता फैली हुई दिखलाई पडती थी। कहीं कहीं कोई नाव भी दिखलाई पडजाती। तटपर की वृक्ष-पंक्तियों के नीचे काली छाया फैली हुई होती और शांत प्रवाह पर चंद्र की चंद्रिका।

हमारे उद्यानगृह का नाम 'मोरेनची बाग' था। जल से लेकर उद्यानगृह के बरामदे तक सीढियाँ थीं। उद्यानगृह के कमरे भी एक समान न होकर भिन्न भिन्न प्रकार की रचना वाले थे। दालान भी एक ऊँचाई पर न

होकर कुछ ऊँचे और कुछ नीचे थे। कुछ दालानों पर जीने से चढकर जाना होता। दीवान खाना भव्य था। उसका मुँह घाट की तर्फ था। दीवान खाने की खिडकियां काँच की थीं। उन पर रंग बिरंगे चित्र बने हुए थे।

एक चित्र ऐसा था कि घनी छाया में आधी ढँकी हुई वृक्ष शाखा पर एक झूला टँगा हुआ है, कहीं प्रकाश है और कहीं अंधकार। ऐसे कुंज में दो मनुष्य उस झूले पर बैठकर झूल रहे हैं। दूसरा एक चित्र था, उसमें दिखलाया गया था कि किले के समान एक विशाल राज भवन है। उस की कई सीढियाँ हैं और त्योहार के समान शृंगार कर के स्त्री पुरुषों के झुंड के झुंड इधर उधर घूम रहे हैं। खिडकियों पर प्रकाश पडने पर यह चित्र चमकने लगते और इस कारण बडे सुन्दर दिखने लगते थे। उन की सुंदरता ऐसी मालूम होती थी मानों वह नदी के ओर के वातावरण को उत्सव-संगीत से पूरित कर रही है। बहुत प्राचीन काल में होने वाली जिस मिजवानी का यह दूसरा चित्र है, उस मिजवानी का ठाठ बाट मुग्ध प्रकाश में प्रत्यक्ष दिखलाई पड रहा है। और पहिले चित्र के झूले पर गाया जाने वाला प्रणय–संगीत, नदी तट के बन को अपने कथानक से सजीव कर रहा है। उद्यानगृह के सब से ऊपर का कमरा गोल मीनार के ऊपर था। इस के चारों ओर खिडकियाँ थीं। कविता बनाने के लिये मैं इस कमरे में बैठा करता था। नीचे वृक्ष

और ऊपर आकाश के सिवाय वहाँ से और कुछ नहीं दिखता था। उस समय मैं "संध्या संगीत" की रचना में व्यस्त होगया था। इस में मैंने अपने इस स्थान के संबंध में भी एक कविता लिखी थी।

प्रकरण तेंतीसवां

संध्या संगीत।

इस समय साहित्य समालोचकों में, ताल सुर के परंपरागत नियमों को एक ओर रख कर नये नियमों को चलाने और तोतले गाने वाले के नाम से मैं प्रसिद्ध होगया था। मुझ पर यह आरोप था कि मेरे लेख स्पष्ट नहीं होते। उस समय भले ही यह आरोप मुझे न रुचा हो, पर यह निराधार आरोप नहीं था। इस में थोडा बहुत सत्य जरूर था। वास्तव में मेरे कवित्व को संसार के अनुभव का बल नहीं था। और यह बल मिल भी कैसे सकता है जब कि बाल्या-वस्था में एकांत बास में बंदी बनाकर मैं रखा गया था।

मेरे पर किया हुआ आरोप भले ही निराधार न हो पर उस आरोप के पीछे छिपी हुई एक बात तो मैं कभी स्वीकार नहीं कर सकता। वह यह कि मैं लोगों के मन पर अधिक परिणाम होने के लिये जान बूझ कर ऐसी गूढ

पद्धति का अवलंबन करता हूं। इस आक्षेप से मुझे बहुत दुःख होता था। सुदैव से जिन की दृष्टि निर्दोष है उन के लिये किसी युवक को चश्मा लगाते हुए देख कर यह कहना कि यह केवल 'फेशन' के लिये लगाया गया है, व आँखें मिचकाना संभव हो सकता है और व्यवहार में ऐसा होता भी है, पर वह नहीं दिखने का ढोंग करता है, ऐसा उस पर आक्षेप करना अत्यंत निंद्य है। धूम्र मय स्थिति, सृष्टि की उत्क्रांति की एक अवस्था है। इस अवस्था पर किसी हेतु विशेष का आरोप करना उचित नहीं है।

जिस कवित्व में निश्चितता न हो उसे किसी काम का न समझने से साहित्य के वास्तविक तत्वों की हमें कभी प्राप्ति न होगी। यदि ऐसे कवित्व में मनुष्य स्वभाव की कोई वास्तविक बाजू प्रगट की गई हो तो वह कवित्व अवश्य संग्राह्य है। मनुष्य स्वभाव का यदि कोई यथार्थ चित्र उस कविता में न हो तभी उसे दूर करना चाहिये। मनुष्य जीवन में ऐसा भी एक समय होता है जब कि अनिर्वचनीय बातों के संबंध में करुणावृत्ति और अस्पष्टता की चिंता ही उस की मनोभावना बन जाती है। जिन कविताओं में कोई भी मनोभावना प्रगट करने का प्रयत्न किया जाता है वे कविताएं अप्रयोजनीय नहीं मानी जा सकतीं। बहुत हुआ तो, उन का कोई मूल्य नहीं हैं, ऐसा कहा जा सकता है; परंतु वह भी

विश्वास पूर्वक नहीं। यह दोष उन भावनाओं का नहीं हो सकता जिन्हें व्यक्त किया गया है; किंतु उस असफलता का दोष है जिस के कारण भावनाओं को स्पष्ट रूप नहीं दिया जा सका।

मनुष्य में भी अंतर और बाह्य ऐसा द्वैत है। आचार विचार और भावनाओं के प्रवाह के पीछे रहे हुए अंतरात्मा का, प्रायः बहुत कम ज्ञान हो पाता है। जीवन की वृद्धि का अंतरात्मा एक साधन है। उसे छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। जब बाह्य और अंतर व्यवहारों का परस्पर मेल नहीं रहता तब अंतरात्मा घायल सा हो जाता है और उसकी वेदना बाहिर भी प्रगट होने लगती है। उसका वर्णन करना अथवा उसका नामाभिधान करना कठिन है। निश्चित अर्थ वाले शब्दों के समान उस वेदना का उच्चारण नहीं किया जा सकता। वह तो अस्पष्ट आर्त-स्वर के समान हुआ करती है।

'संध्या संगीत' में परिस्फुटित खेद और दुःख रूपी विकार मेरे अंतरतम प्रदेश में उत्पन्न हुए थे। भीतर ही भीतर दबाकर रखा हुआ अंतरात्मा, बंध मुक्त होकर स्वतंत्र वातावरण में आने का प्रयत्न किया करता है। संध्यासंगीत के गायन ऐसे प्रयत्न का इतिहास मात्र है। सृष्टि के अन्य पदार्थों के समान काव्य में भी एक दूसरे के विरुद्ध शक्तियां रही हुई हैं। उनका परस्पर

में मेल नहीं बैठता। एक शक्ति एक ओर खींचती है और दूसरी उसके विरुद्ध। इन परस्पर विरुद्ध शक्तियों में यदि अत्यंत विरोध हो जाय अथवा अत्यंत मेल होजाय तो मैं समझता हूं कि काव्य की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। यदि वैमनस्य से उत्पन्न हुआ दुःख नष्ट होकर इन शक्तियों का परस्पर मेल होजाय तो सारंगी से निकलने वाली ध्वनि के समान काव्य में से संगीत उत्पन्न होने लगता है।

'संध्या संगीत' के जन्म समय में यद्यपि किसी ने 'रणसिंगा' फूँक कर उसका स्वागत नहीं किया तोभी उसे रसिक पाठकों की कमी नहीं रही। एक जगह मैंने यह बतलाया ही है कि रमेशचंद्र दत्त की बड़ी लड़की का विवाह था। श्री बंकिम बाबू दरवाजे पर खडे थे और रमेशचंद्र रिवाज के मुताबिक उनके गले में हार डाल कर उनका स्वागत कर रहे थे कि इतने ही में मैं पहुँचा। बंकिम बाबू ने अपने गले से हार निकाल कर मेरे गले में डालते हुए कहा—रमेश, पहिले इनके गले में हार डालना चाहिये। क्या तुमने इनका 'संध्या संगीत' नहीं पढ़ा ?। रमेश बाबू ने उत्तर दिया कि मैंने अभी तक नहीं पढ़ा। तब उसमें के कुछ पद्यों पर बंकिम बाबू ने अपनी सम्मति प्रगट की। उस सम्मति से मैंने अपना परिश्रम सफल समझा।

'संध्या संगीत' के कारण मुझे एक उत्साही मित्र प्राप्त हुए। इनके द्वारा की हुई मेरी प्रशंसा ने सूर्य-किरणों

के समान मेरे नवीन उद्भूत परिश्रम में नवजीवन का संचार किया और योग्य मार्ग दिखलाया। इनका नाम 'बाबू प्रियानाथ सेन' है। संध्या-संगीत के पहिले 'भग्न हृदय' नामक मेरे काव्य ने इन्हें मेरे संबंध में बिल्कुल निराश कर दिया था। परंतु संध्या संगीत के कारण इन्हें फिर मुझ पर प्रेम उत्पन्न हुआ। इनसे परिचय रखने वाले लोगों को मालूम ही है कि ये साहित्य रूपी सप्त समुद्र में सुरक्षित रह कर पर्यटन करने वाले एक चतुर नाविक थे। ये प्रायः सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं और कई विदेशी भाषाओं के साहित्य के जानकार एवं मर्मज्ञ थे। इनसे बात चीत करते समय विचार सृष्टि के छुपे छुपाये दृश्यों का भी चित्र देखने को मिल जाता था। इनके साथ की मेरी मैत्री अत्यन्त मूल्यवान् थी। और उससे मुझे कल्पनातीत लाभ हुआ।

प्रियानाथ बाबू सीमा रहित आत्म—विश्वास पूर्वक साहित्य संबंधी अपने मत प्रतिपादन किया करते थे। अधिकार युक्त भाषा और आत्म विश्वास पूर्वक उन्होंने जो साहित्य की समालोचना की उससे मुझे बहुत सहायता मिली। उसका मैं शब्दों से वर्णन नहीं कर सकता। उन दिनों मैं जो कुछ लिखता वह सब उन्हें सुनाया करता था। उचित अवसर पर अपने प्रशंसा पूर्ण उद्गारों से उन्होंने मेरे में उत्साह उत्पन्न किया। यदि उन्होंने मेरी प्रशंसा न की होती

तो उस अवस्था में मैंने जो जमीन तैयार की और आज उसकी फसल काट रहा हूं,—फल प्राप्त कर रहा हूं,—वह फल प्राप्त होता कि नहीं, यह कहना कठिन है ।

प्रकरण चौंतीसवाँ।

प्रभात संगीत।

गंगा तट पर रहते हुए मैंने थोडा सा गद्य भी लिखा था। यह गद्य किसी खास विषय पर या कोई विशेष हेतु पूर्वक नहीं लिखा था। किंतु जिस प्रकार बालक पतंग उडाते हैं उसी प्रकार साहजिक रीति से मैंने यह सब लिख डाला था। अंतरंग में जब वसंत का आगमन होता है तब अनेक प्रकार की क्षणिक कल्पनाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं। ये कल्पनाएँ मनमें इधर उधर दौडा करती हैं। बिना विशेष घटना हुए अपना ध्यान भी उन की ओर नहीं जाता। यह अवकाश का समय था। संभवतः इसी लिये जो ध्यान में आवे उसी का संग्रह करने की इच्छा मुझे हुई होगी। अथवा मेरी आत्मा ने जो बंधन मुक्त होने पर मन में आवे सो लिखने का निश्चय किया था, उसी निश्चय का यह दूसरा पहलू होगा। मैं जो कुछ उस समय लिखता उस का कोई साध्य नहीं रहता। केवल 'मैं लिखने वाला हूं' इतनी भावना ही मेरे लिखने के उत्साह के लिये काफी थी। आगे जाकर

मेरे यह सब गद्य लेख "विविध प्रबन्ध" के नाम से प्रकाशित हुए, और पहिली आवृत्ति में ही उनका अंत भी होगया। पुनरावृत्ति के द्वारा बेचारों को फिर पुनर्जन्म न मिल सका।

मुझे स्मरण है कि मैंने इसी समय अपना पहला उपन्यास "बऊ ठकुरानीर हाट" प्रारंभ किया था।

नदी तट पर कुछ दिन रहने के बाद ज्योतिरिन्द्र कलकत्ता चले आये। यहाँ म्युजियम के समीप आम रास्ते पर एक मकान लेकर ये रहने लगे। मैं भी इन्हीं के समीप रहता था। इस जगह पर रहते हुए उक्त उपन्यास और संध्या-संगीत लिखते लिखते मेरे अंतरंग में कुछ महत्व पूर्ण क्रांति हुई।

एक दिन संध्या के समय मैं "जोडा सांको" वाले घर की गच्ची पर घूम रहा था। अस्त होने वाले सूर्य का प्रकाश, संध्या काल के प्रकाश से इस तरह मिल गया था कि सर्वत्र फैला हुआ संध्याऽगमन मुझे विषेश चित्ताकर्षक मालूम हुआ। इस दृश्यने मुझे मोहित करडाला। सौंदर्य की अतिशयता से मेरा मन इतना भर गया कि नजदीकवाले घर की दिवालें भी अधिकाधिक सुंदर होती जारही है। ऐसा मुझे प्रतीत होने लगा। आश्चर्यचकित होकर मैं अपने आपसे पूछने लगा कि "नित्यके परिचित जगत पर से क्षणभंगुरत्व का आच्छादन आज दूर होजाने का क्या कारण है? इस सायंकालीन प्रकाश में कोई जादूतो नहीं है?—नहीं! ऐसातो नहीं होसकता"।

तुरत ही मेरे ध्यान में आगया कि यह सायंकालका अंतरंग पर हुआ परिणाम है। सायंकालकी कृष्णच्छायाने मेरे आत्मा को घेर लिया था। दिन के चकचकित प्रकाश में मेरे आत्मा को भ्रमण करते समय मैं जो कुछ देखता वह सब उसमें विलीन होकर अदृश्य हो जाया करता था। परंतु अब आत्माको पार्श्व में छोड देने से जगतको उस के इस वास्तविक रूप में मैं देख सका कि उसमें क्षुद्रता का अंशभी नहीं हैं। वहतो सौंदर्य और आनंदसे ओत पोत है। यह अनुभव प्राप्त होने पर अपने अहंकारको दबाकर जगतकी ओर केवल द्रष्टा बनकर देखते रहने का मैं प्रयत्न करने लगा। उस समय मुझे एक विशेष प्रकार का आनंद प्रतित होने लगा। एकबार मैं अपने एक रिस्तेदार को यह समझाने लगा कि जगतकी ओर किस रीति से देखना चाहिये। और उस रीति से देखनेपर मनका भार किस प्रकार हलका होजाता है। मैं समझता हूं कि मेरा यह प्रयत्न संभवतः सफल नहीं होसका। इसके बाद इस गूढ रहस्य के संबंध में मेरी और भी प्रगति हुई और वह चिरस्थायी हुई।

हमारे सदर रास्तेवाले घरसे इस रास्ते के दोनों छोर दिखलाई पडते थे। एक छोर पर फ्री स्कूल था। इस स्कूलके क्रीडांगण में जो वृक्ष थे उन्हें मैं एक दिन बरामदे में खडा खडा देख रहा था। उन वृक्षोंके पत्तोंसे बने हुए शिखर पर से सूर्य नारायणकी सवारी ऊपर आ रही थी। इस दृश्य के

देखते देखते मेरे नेत्रों परसे जैसे पटल दूर होगया हो। मुझे दिखने लगा कि संपूर्ण जगत चमत्कार जन्य प्रकाशसे प्रकाशित है और उसमें चारों ओरसे सौंदर्य तथा आनंदकी लहरों पर लहरें उठ रही हैं। इस प्रकाश ने मेरे हृदयपर जमे हुए खेद और नैराश्य के थरों को एकदम नष्ट करदिया और अपने विश्व व्यापी तेज से मेरा हृदय भरडाला।

उसी दिन "जलपात जागृति" नामक कविता मेरे हृदय से बाहिर निकल पडी। और धबधबे के समान उसका प्रवाह बहने लगा। कविता पूरी होगई पर विश्व के आनंदमय रुप पर कोई आवरण नहीं पडा। आगे जाकर तो यह कल्पना इतनी दृढीभूत होगयी कि मुझे कोईभी व्यक्ति अथवा वस्तु क्षुद्र, कष्टप्रद अथवा आनंद रहित प्रतीत नहीं होती थी। इस के दूसरे या तीसरे ही दिन एक और बात हुई वह मुझे विशेष चमत्कार पूर्ण मालूम हुई।

एक बडा विचित्र मनुष्य था। वह मेरे पास बारंबार आता और पागलों जैसे प्रश्न किया करता था। एक दिन उसने पूछा "आपने अपनी आंखों से कभी परमेश्वर को देखा है?" मैंने कहा नहीं। उसने कहा मैंने परमेश्वर को देखा है। जब उस से यह पूछा कि वह कैसा है? उसनें कहा कि परमेश्वर की मूर्ति एक दम मुझे दिखलाई पडी और तुरत ही अदृश्य होगई।

ऐसे मनुष्य के साथ इस प्रकार की बात चीत से किसी को भी आनंद नहीं होगा। और मैं तो उस समय लेखन कार्य में अत्यंत व्यस्त भी था। परंतु वह आदमी बहुत सीधा सादा था। इस लिये उसके श्रद्धालु भावों को मैं दुखाना नहीं चाहता था। और उस की सब बातें यथा शक्ति शांत चित्तसे सुनलिया करता था।

परंतु मैं जिन दिनों की बातें यहां लिख रहा हूँ उन दिनों तो सभी कुछ बदल गया था। इन्हीं दिनों में वह एक दिन शाम के समय आया। उसके आने से दुःख होने की अपेक्षा मुझे आनंद हुआ। और मैंने उसका यथोचितस्वागत किया। इस समय उस पर से विक्षिप्तता का आवरण मुझे हटा हुआ प्रतीत हुआ। मुझे मालूम होने लगा कि मैं जिस मनुष्य का इतने आनंद से स्वागत कर रहा हूं वह मेरी अपेक्षा किसी भी दृष्टि से कम नहीं है, प्रत्युत उसका मेरा निकट संबंध है। पहले जब वह आता तब मन को कष्ट हुआ करता और मैं अपना समय व्यर्थ गया हुआ समझता। परंतु इस समय वह बात नहीं थी। अब तो मेरा मन आनंदित हो रहाथा और प्रतीत हो रहाथा कि बिना कारण दुःख और कष्ट उत्पन्न करने वाले असत्य के जाल से मैं मुक्त होगया हूँ।

बरामदे के कठडे के पास खडा होकर रास्ते से आने जाने वाले लोगों को मैं देखा करता था। हरएक के चलने

की रीति, उस के शरीर का गठन, नाक कान आदि अवयव, देखकर मेरा मन 'थक' होजाता और मालूम होता कि ये सब बातें विश्व सागर की तरंगों को पीछे ढकेल रही हैं। लडकपन से मैं ये सब बातें केवल अपने चर्म चक्षुओं से ही देखता आरहा हूँ परंतु अब ज्ञान-शक्ति की संयुक्त सहायता से मैंने देखना प्रारंभ किया। एक दूसरे के कंधे पर हाथ रख कर हँसते खेलते जाने वाले दो तरुणों को देखता तो मैं उसे कोई क्षुद्र बात न समझ कर यह समझता कि मैं आनंद के शाश्वत और अनंत झरने के तल को देख रहा हूँ, जिस के द्वारा सम्पूर्ण जगत में हास्य के अनंत तुषार फैला करते हैं।

मनुष्य के जरा भी हलन चलन करने पर उसके अवयव और स्नायुओं का कार्य शुरु होता है। इनका यह खेल मैंने पहिले कभी लक्ष्य पूर्वक नहीं देखा था। अब तो प्रति समय उनकी लीलाओं के नाना भेद मुझे सर्वत्र दिखने लगे और उस से मैं मोहित होगया। पर इन का कोई स्वतंत्र अस्तित्व मुझे नहीं दिखा। किंतु सम्पूर्ण मानवी सृष्टि में, प्रत्येक घर में और उनकी नाना प्रकार की आवश्यकताओं तथा कार्यों में जो आश्चर्य कारक सुंदर नृत्य सदा होता रहता है उसी का यह भी एक विभाग है, ऐसा प्रतीत होने लगा।

एक मित्र दूसरे मित्र के सुख दुःख का हिस्सेदार बनता है। माता संतान को प्यार करती है, उसे कंधेपर बिठला कर

खिलाती है। एक गाय दूसरी गाय के पास खडी हो जाती और चाटती है। इन सब घटनाओं को देखकर इन के पीछे रहाहुआ 'अनंतत्व' मेरी दृष्टि के आगे खडा हो जाता है। उसका मुझपर ऐसा परिणाम होता है कि मैं घायल हो जाता हूं। इस समय के संबंध में आगे जाकर मैंने एक स्थान पर लिखा था कि "मेरे हृदय ने एकाएक अपने द्वार कैसे खोल दिये और अनन्त सृष्टि को हाथ में हाथ मिलाये हुए किस तरह अन्तर में प्रवेश होने दिया, यह मेरी समझ में नहीं आया"। यह कवि की अतिशयोक्ति नहीं थी। मैं तो अपने मन को जो ठीक प्रतीत हुआ और मेरे अनुभव में जो आया वह सब ज्यों का त्यों योग्य शब्दों में प्रगट ही नहीं करसका।

इस स्वतः को भूल जाने वाली स्थिति में मैं कई दिनों तक रहा। और इसका मीठा अनुभव लेता रहा। फिर मेरे भाई ने दार्जिलिंग जाने का निश्चय किया। "अर्थ विशेषः" यह भी विशेषता ही हुई, यह जानकर मुझे बडा आनन्द हुआ। मुझे मालूम होने लगा कि जिस गूढ बात का मुझे सदर रास्ते पर रहते समय ज्ञान हुआ वही बात हिमाचल की उत्तुंग शिखर पर मुझे और भी अच्छी तरह से देखने को मिलेगी। उसके अंतरंग का मुझे गहन ज्ञान होगा। और नहीं तो मेरी नूतन दृष्टि को हिमालय कैसा दिखता है इसी का मुझे अनुभव होगा।

परन्तु मेरा अनुभव भ्रम पूर्ण निकला। विजय श्री ने मेरे उस सदर रास्ते वाले घर को ही जय माला पहनाई थी। पर्वत शिखर पर चढकर जब मैं आस पास देखने लगा तो क्षण मात्र में मेरी नूतन दृष्टि नष्ट होगई, और यह बात भी तुरंत ही मेरे ध्यान में आगई। बाह्य सृष्टि से सत्य की अधिक प्राप्ति की मेरी आशा ही गलत थी। मैंने जो यह आशा की थी वह एक तरह से पाप ही किया था। पर्वतराज की शिखरें भले ही गगन-चुम्बी क्यों न हों, परंतु मुझे दिव्य दृष्टि देने योग्य उनके पास कुछ नहीं था। जो दाता है वह तो किसी भी जगह—गंदी गलियों तक में—क्षणमात्र का विलंब किए बिना शाश्वत जगत की दिव्य-दृष्टि का दान कर सकता है।

वृक्षों और पौधों में मैं भटका। धबधबों के पास बैठा। उनके पानी में यथेच्छ डुबकियाँ लगाईं। मेघ रहित आकाश में कांचन-गंगा की शोभा देखी। परंतु वह चीज मुझे नहीं मिली। मुझे उसका ज्ञान होगया था, पर वह अब दिखती न थी। हीरे के रत्न खंड की ओर मैं देख ही पाया था कि उसकी पेटी का ढकन बंद हो गया। मैं चित्र के समान बंद पेटी की ओर देखता रह गया। उस पेटी की नकाशी सुंदर और चित्ताकर्षक होने पर भी मेरी दृष्टि में वह पेटी खाली थी, परंतु मेरी इस भ्रम पूर्ण समझ से उसकी कोई हानि नहीं।

मेरी 'प्रभात-संगीत' रचना पूर्ण होगई थी। दार्जिलिंग में लिखी हुई 'प्रतिध्वनि' नामक कविता ही इसकी अंतिम

कविता थी। लोगों को मालूम होने लगा कि इसमें अवश्य कुछ न कुछ रहस्य छिपा है। इसी पर एक बार दो मित्रों में परस्पर होड़ हुई। संतोष की बात इतनी ही थी कि वे दोनों मेरे पास ही अर्थ समझने के लिये आये। परंतु उस कविता का रहस्य भेद करने में उनके समान मैं भी असमर्थ निकला। अरेरे ! वे कैसे दिन थे जब मैं कमल और कमलाकर पर अत्यंत सीधी सादी कविता रचा करता था, वे दिन कहां गये।

क्या कोई मनुष्य कुछ बात समझाने के लिये कविता लिखा करता है ?। बात यह है कि मनुष्य के हृदय को जो प्रतीत होता है वह काव्य रूप में बाहर निकलने का प्रयत्न किया करता है। यदि ऐसी कविता को सुनकर कभी कोई यह कहता है कि मैं तो इसमें कुछ नहीं समझता तो उस समय मेरी मति कुंठित हो जाती है। पुष्प को सूंघकर यदि कोई कहने लगे कि मेरी कुछ समझ में नहीं आता, तो उसका यही उत्तर हो सकता है कि इसमें समझने जैसा है भी क्या ?। यह तो केवल 'भासमात्र' है। इस पर भी वह यदि यही कहे कि "हां यह तो ठीक है, मैं भी जानता हूँ पर इसका अर्थ क्या ?" और इसी तरह बार बार प्रश्न करने लगे तो उससे छुटकारा पाने के लिये दो ही मार्ग हैं। या तो उस विषय की चर्चा ही बदल दी जाय अथवा यह सुगंध,

फूलमें विश्व के आनंद की धारण की हुई आकृति है, यह कह कर उस विषय को और भी अधिक गहन बना दिया जाय।

शब्द अर्थात्मक होते हैं। इसीलिये कवि यमक और छंद के सांचे में उन्हें ढालता है। उसका उद्देश्य शब्द को अपने दबाव में रखने का होता है। जिससे उनका प्रभाव न बढ सके और मनोभावनाओं को अपना स्वरूप प्रगट करने का अवसर मिले।

मनोभावनाओं को इस प्रकार प्रगट करना कुछ मूलतत्वों का प्रतिपादन नहीं है। न शास्त्रीय चर्चा है। न नैतिक तत्वों की वह शिक्षा ही है। वह तो अश्रु अथवा हास्य आदि अंतरंग संबंधी बातों का चित्र है। शास्त्र अथवा तत्वज्ञान को काव्य से कुछ लाभ प्राप्त करना हो तो वे भलेही करलें, पर यह निश्चित नहीं है कि काव्य से उन्हें लाभ होना ही चाहिये। वे (तत्व ज्ञान आदि) काव्य के अस्तित्व के कारण नहीं हैं। नाव में बैठकर जाते समय यदि मछलियां मिलें और उन्हें पकड सके तो यह पकडने वाले का सुदैव, परंतु इस कारण से वह नाव, मछली पकडने वाली नाव नहीं कहला सकती और न उस नाव के मांझी को मछली पकडने का धंदा न करने के कारण कोई दोष ही दे सकता है।

'प्रतिध्वनि' नामक कविता लिखे, इतने दिन हो चुके हैं कि वह अब किसी के ध्यान में भी नहीं आती। और न

अब कोई उसका गूढार्थ समझने के लिये ही मेरे पास आता है। उसमें दूसरे गुण दोष भले ही कुछ हों; पर मैं पाठकों से यह विश्वास पूर्वक कह सकता हूँ कि उस कविता के रचने में मेरा उद्देश्य किसी रहस्य को प्रति-पादन करने का नहीं था और न अपनी भारी विद्वत्ता प्रगट करने का ही था। किंतु बात तो यह थी कि मेरे हृदय में एक प्रकार की छटपटाहट थी, वही कविता रूप में प्रगट हुई। और दूसरा कोई नाम ध्यान में न आने के कारण उसका 'प्रतिध्वनि' यह नामाभिधान कर डाला।

विश्व के मध्य में रहे हुए झरने से संगीत का प्रवाह बहकर विश्व भर में फैलता है। और उसकी प्रतिध्वनि हमारे प्रिय जनों और आस पास की सुंदर वस्तुओं से टकरा कर दूर रहने वाले हमारे हृदय में वापिस लौट आती है। मेरे ऊपर कहे अनुसार हम जो प्रेम करते है वह उन वस्तुओं पर नहीं करते, जिन से प्रतिध्वनि उत्पन्न होती है; किन्तु प्रति-ध्वनि पर ही शायद करते हैं। क्योंकि कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक समय हम जिस चीज को देखना तक नहीं चाहते दूसरे समय में वही चीज हमारे मन पर अत्यंत प्रभाव जमा लेती है। हम उसके दास बनजाते है और वह हमारी देवता।

इतने दिनों तक मैं जगत का बाह्य स्वरूप ही देखा करता और इस कारण उसका सर्वव्यापी आनंदमय रूप मुझे

नहीं दिखता था। इसके बाद एक बार प्रकाश की एक किरण अचानक चमकी और उसने सर्व जगत प्रकाशित कर डाला। उस समय से मुझे यह जगत असंख्य वस्तुओं का ढेर मात्र अथवा उसमें होने वाले कार्यों का एक विशाल संग्रह मात्र न दिखकर वह एक 'पूर्ण वस्तु' दिखने लगा। और तब से मुझे मालूम होने लगा कि यह अनुभव मुझसे यह कह रहा है कि—"विश्व की गहन गूढता में से गाने के प्रवाह का उद्गम होकर वह काल और क्षेत्र पर फैल रहा है। और वहाँ से आनंद की लहरों के समान उसकी प्रतिध्वनि निकल रही है।"

जब कोई सुचतुर कवि हृदय के भी हृदय में से संगीत का आलाप निकालता है तब उसे वास्तविक आनंद प्राप्त होता है। और वही गाना जब सुनने को मिलता है तो वह आनंद दुगुना हो जाता है। इस तरह कवि की कृति आनंद के पूर में बहकर उसके पास वापिस आती है और तब वह स्वयं भी उस पूरमें निमग्न हो जाता है। ऐसा होने पर प्रवाह के ध्येय का उसे ज्ञान होजाता है। पर वह इस रीति से होता है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ज्यों ज्यों इस प्रकार का ज्ञान होता जाता है त्यों त्यों आनंद भी बढता जाता है। और आनंद के प्रवाह के साथ साथ उसके अपरिमित ध्येय की ओर अपने दुःख, कष्ट आदि को एक ओर रख वह स्वतः जाने लगता है। सुंदर वस्तु के दिखते ही उसकी प्राप्ति के लिये मन में जो छटपटाहट होने लगती है उसका यही कारण है।

अपरिमित से निकल कर परिमित की ओर बह कर जाने वाले प्रवाह को ही 'सत्य' 'सत्व' कहा जाता है। वह निश्चित नियमों के द्वारा नियंत्रित होता है। अपरिमित की ओर लौट कर आनेवाली उस प्रवाह की प्रतिध्वनि ही "सौंदर्य" और "आनंद" है। इन दोनों को स्पर्श करना या कसकर पकड रखना अत्यंत कठिन है। इसलिये यह हमें पागल बना देते हैं। प्रतिध्वनि नामक कविता में मैंने यही बात प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। मेरा यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ अथवा अपना कथन मैं विशद न कर सका, इसपर आश्चर्य करने की कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि उस समय मुझे ही मेरी बात का स्पष्ट ज्ञान नहीं हुआ था।

कुछ वर्षों के बाद बडे हो जाने पर अपने 'प्रभात संगीत" के संबंध में मैंने एक लेख लिखा था। पाठकों की आज्ञा लेते हुए मैं यहां उस लेख का सार देना उचित समझता हूँ:—

"एक विशिष्ट अवस्था में यह मालूम होने लगता है कि जगत में कुछ नहीं है। जो कुछ है सब अपने हृदय में है। जिस प्रकार दांत निकलते समय बालक यह समझता है कि सब वस्तुएं अपने मुँह में रखने के ही लिये हैं, उसी तरह जब हृदय जागृत होता है तब वह भी सम्पूर्ण जगत को लपेट कर छाती से लगाने के लिये हाथ पसारता है। हेयोपादेय

(त्याज्य और ग्राह्य) का ज्ञान उसे पीछे क्रमशः होता है। हृदय पर पसरे हुए मेघ संकुचित होने लगते हैं और उसमें से उष्णता उत्पन्न होती है। और वह उष्णता फिर साहजिक रीति से दूसरों को संतप्त करने लगती है। सम्पूर्ण जगत की प्राप्ति की इच्छा करने से कुछ भी प्राप्त नहीं होता। जब अपनी सर्व शक्तियों को एकत्रित कर किसी एक वस्तु पर, फिर वह कुछ भी क्यों नहो, अपनी इच्छा केन्द्रीभूत की जाती है तब 'अपरिमित' तक पहुँचने का द्वार दिखने लगता है। 'प्रभात संगीत' के द्वारा प्रथम ही मेरा अंतरात्मा बाहिर प्रगट हुआ था, इस कारण उक्त प्रकार के केन्द्रीभूत होने के कोई चिन्ह उसमें नहीं दिखलाई पडते।"

यह प्रथम प्रगटी-करण का सार्वत्रिक-आनंद, वस्तु विशेष से हमारा परिचय करा देता है। जब कोई सरोवर लबालब भर जाता है तब उसका जल निकलने का मार्ग ढूंढने लगता है। फिर वह जल, एक स्थान पर न रहकर चारों ओर बहने लगता है। इसी तरह आगे प्राप्त होने वाला शाश्वत प्रेम प्रथम प्रेम की अपेक्षा संकुचित कहलाता है। प्रथम प्रेम का कार्य क्षेत्र निश्चित स्वरूप का होता है और फिर वह प्रत्येक भाग विभाग में से 'सम्पूर्ण अविच्छिन्न' वस्तु को खोजने की इच्छा करता है। और इस रीति से वह प्रेम अपरिमित की ओर खिंचने लगता है। अंत में उसे जो वस्तु प्राप्त होती है वह हृदय

का पूर्व कालीन अमर्यादित आनंद न होकर अपने से दूर रहने वाला 'अपरिमित सत्य' होता है। उसी में वह प्रेम विलीन हो जाता है। और इस प्रकार अपनी ही इच्छा में से सम्पूर्ण "सत्य तत्व" की उसे प्राप्ति होती है।

मोहित बाबू ने मेरी जो कविताएं प्रकाशित की हैं, उन में 'प्रभात संगीत' का शीर्षक "निष्क्रमण" रखा है। क्योंकि अंधकार मय 'हृदय-भवन' में से खुले जगत में मेरे आने के समाचार इन्हीं कविताओं में प्रगटीभूत हुए हैं। इसके बाद इस–यात्री-हृदय–ने अनेक प्रकार से और मन की भिन्न भिन्न स्थितियों में क्रमशः जगत से परिचय प्राप्त किया और उससे स्नेह संबंध जोडा है। सदा परिवर्तन शील वस्तुओं की असंख्य सीढियों पर चढ जाने के बाद अंत में यह यात्री अपरिमित तक जा पहुँचेगा। इसे अनिश्चितता की अस्पष्टता न कहकर पूर्ण सत्य में मिलजाना ही कहना उचित होगा।

मैं अपनी बहुत ही छोटी अवस्था में बिल्कुल सीधी सादी तौरपर और प्रेम पूर्वक सृष्टि से बातचीत किया करता था। उस से मैंने मैत्री कर ली थी जिस के आनंद का मुझे बहुत ही अनुभव हुआ है। मुझे अपने बगीचे के नारियल के प्रत्येक वृक्ष भिन्न भिन्न व्यक्ति के समान प्रतीत होते थे। नार्मल स्कूल से जब मैं शाम को लौटकर आता और गच्ची पर जाता तब आकाश में नीले और काले रंग के अभ्र

(बादल) देखते ही मेरा मन किस प्रकार बेहोश हो जाया करता था, यह मुझे आज भी अच्छी तरह याद है। प्रति दिन प्रातःकाल जग कर ज्यों ही मैं आँख खोलता त्योंही मुझे मालूम होता कि प्रेम से जागृत करने वाला जगत खेल में अपना साथी बनाने के लिये मुझे बुला रहा है।

दुपहर का तप्त आकाश, विश्राम के प्रशांत समय में उद्योग निमग्न जगत से उडा कर मुझे किसी दूरस्थ तपोभूमि में ले जाता था। और रात्रि का निबिड अंधःकार राक्षस रास्ते के द्वार खोलकर सात-समुद्र तेरह-नदी को पार कर सम्पूर्ण शक्य अशक्य बातों को पीछे छोडते हुए मुझे अपनी ठेठ आश्रम भूमि में ले जाया करता था।

आगे जाकर तारुण्य का प्रभात काल उदय हुआ। मेरा तृषित हृदय क्षुधा से व्याकुल होकर रोने लगा। तब अंतर बाह्य के इस खेल में एकाएक विघ्न उपस्थित हो गया। मेरा 'जीवन सर्वस्व' दुःखी हृदय के चारों ओर चक्कर मारने लगा। उसमें भँवर पर भँवर उठने लगे; और अंत में अपने 'जीवन सर्वस्व' का ज्ञान उसमें विलीन हो गया, डूब गया। दुःखी होकर हृदय अपना अधिकार जमाने लगा। अंतर्बाह्य की विषमता बढने लगी। उससे अभी तक जो मैं सृष्टि पदार्थों से हिल मिल कर बात चीत किया करता था वह बंद हो गया। और इससे मुझे जो दुःख हुआ उस दुःख का

मैंने 'संध्या-संगीत' में वर्णन किया है। आगे जाकर 'प्रभात संगीत' में इस विघ्न की किले बंदी को तोडा। इस तोडने के लिये मुझे किस वस्तु से उस पर आघात करना पडा; यह मुझे विदित नहीं है। परन्तु विघ्न की किले बंदी के टूटने से मेरी खोई हुई चीज मुझे फिर मिली। उस वस्तु का लाभ मुझे केवल पूर्ण परिचित स्वरूप में ही नहीं हुआ, किन्तु संध्या कालीन वियोग के कारण अधिक गंभीर और पूर्ण परिणत स्थिति में मुझे उसका लाभ हुआ।

इस प्रकार मेरे जीवन रूपी पुस्तक के पहिले भाग की समाप्ति मानी जासकती है। इस भाग में संयोग वियोग और पुनः संयोग इस प्रकार से तीन खड हैं। परंतु वस्तु स्थिति के अनुसार यही कहना अधिक सुसंगत होगा कि उस पुस्तक के पहिले भाग का अभीतक अंत होना बाकी है, वही विषय आगे भी चालू रखना पड़ता है। उसकी उलझने सुलझाना पड़ती है। उनका संतोषकारक अंत करना पड़ता है। मुझे तो यह मालूम होता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन रूपी पुस्तक का एक भाग ही समाप्त करने के लिये जगत में अवतरित हुआ करता है।

'संध्या संगीत' के रचनाकाल में लिखे हुए गद्य लेख 'विविध प्रबंध' के नाम से प्रकाशित हुए और 'प्रभात संगीत' के रचना काल में लिखे हुए गद्य लेख 'आलोचना' के नाम से।

इन दोनों गद्य–लेख--मालाओं की विशिष्ट लक्षणा में जो अंतर है, वह अंतर, इन दोनों संगीतों के रचना काल के मध्य में मेरे में जो जो परिवर्तन हुए उनका स्पष्ट निदर्शक है ।

प्रकरण पैंतीसवां

राजेन्द्रलाल मित्र ।

इन्हीं दिनों में मेरे भाई ज्योतिरिंद्र के मन में प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वान लोगों की विद्वत्परिषत् स्थापित करने की कल्पना उठी । बंगाली भाषा में अधिकार युक्त वाणी से पारिभाषिक शब्द निश्चित करना, तथा दूसरे मार्गों से इस भाषा की उन्नति करना, ये दो इस परिषत् के मुख्य ध्येय थे । वर्तमान वंग साहित्य परिषद् जिस रूप से काम कर रही है, हमारी परिषद् का ध्येय उस से कुछ भिन्न था ।

डा राजेन्द्रलाल मित्र को भी यह कल्पना बहुत अच्छी मालूम हुई, और बडे उत्साह के साथ उन्होंने इस कल्पना का स्वागत किया । इस परिषद् के अल्प जीवन-काल में ये ही उस के सभापति भी थे । हमारी इस परिषद् के सभासद् होने के लिये प्रार्थना करने के अर्थ मैं श्री विद्यासागर के पास गया । और परिषद् के उद्देश्य तथा आजतक बने हुए सभासदों की नामावली मैंने उन्हें पढकर

सुनाई। मेरा कथन ध्यान पूर्वक सुनकर उन्होंने मुझ से कहा कि यदि तुम मेरा कहना मानों तो मैं तुम से कहता हूं कि तुम इन लोगों को छोडो। बडे बडे पत्थरों को परिषद् में रखकर तुम कुछ भी न कर सकोगे। क्योंकि वे लोग न तो कभी एक मत होंगे और न उनका परस्पर में कभी प्रेम ही होगा। ऐसा उपदेश देकर सभासद बनना अस्वीकार कर दिया। बंकिम बाबू समासद होगये परंतु उन्होंने कभी परिषद् के काम में विशेष लक्ष्य नहीं दिया। और न कभी उत्साह बतलाया।

सच बात तो यह है कि जब तक परिषद् चलती रही तब तक राजेन्द्रलाल मित्र ही अकेले उसका सब काम उत्तर दायित्व पूर्ण रीति से किया करते थे। हमने भूगोल संबंधी परिभाषिक शब्दों के निर्णय करने का काम पहले पहल हाथ में लिया। इन शब्दों की सूचि का डा. राजेन्द्रलालने स्वयं तैयार की और फिर छपवा कर सब सभासदों के पास भेजी। हमारी एक यह भी कल्पना थी कि देशों के नाम, वहाँ के रहने वाले जिस प्रकार उच्चारण करते हैं, बंगाली में उसी प्रकार लिखे जायँ।

श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का कहा हुआ भविष्य ठीक उतरा। बड़े आदमियों के द्वारा कोई भी काम इस परिषद का न हो सका। और ज्योंही अंकुर फूटने के बाद पत्ते निकलने

का समय आया त्यों ही परिषद का जीवन भी समाप्त होगया। डा. राजेन्द्र सब बातों में निष्णात थे। प्रत्येक बात में वे तज्ञ थे। उस परिषद के कारण ही राजेन्द्रबाबू से परिचय होने का अलभ्य लाभ मुझे प्राप्त हुआ और इस लाभ से परिषद में किये हुए परिश्रम को मैंने सफल समझा। मुझे अपने जीवन में बहुत से बंगाली विद्वानों की मुलाकात का अवसर मिला है परंतु राजेन्द्रलाल मित्र के समान अपनी चतुराई की छाप मुझ पर कोई न जमा सका।

माणिक टोला में कोर्ट आफ वार्डस के दफ्तर में जाकर मैं उन से मिला करता था। जब जब मैं जाता उन्हें लेखन वाचन व्यवसाय में व्यस्त पाता था। अपनी युवावस्था संबंधी उद्धतता के कारण उन का अमूल्य समय लेने में मैं बिल्कुल ही नहीं हिच किचाता था। और न कभी मुझ से मिलने में उन्हें दुःखी होता देखता था। मुझे आता हुआ देखकर वे अपना काम एक ओर रख देते थे, और मुझ से बात चीत करने लगते थे। वे जरा सुनते कम थे, इस लिये मुझे पूछने का वे बहुत ही कम अवसर देते थे। वे कोई गंभीर बिषय को उठाते और उसी की चर्चा तथा ऊहा पोह किया करते थे। उनके मिष्ट और विद्वत्ता पूर्ण संभाषण से आकर्षित होकर ही मैं उन के पास जाया करता था। दूसरे किसी भी मनुष्य के संभाषण में भिन्न भिन्न विषयों पर इतने गंभीर बिचारों

का संग्रह मुझे प्राप्त नहीं हुआ। उनके संभाषण की मोहिनी से आनंदित होकर मैं उनका कहना सुना करता था।

पाठ्य पुस्तकों का निर्णय करने वाली समिति के वे एक सभासद थे, ऐसा मुझे स्मरण है। जाँच पडताल के लिये उन के पास जो पुस्तकें आतीं उन्हें वे पूरी पढते और फिर पेन्सिल से निशान और टिप्पणी लिखा करते थे। कभी कभी वे इन्हीं पुस्तकों में से किसी पुस्तक पर मुझ से चर्चा करते। चर्चा का विषय मुख्यतः बंगाली की रचना और भाषा शास्त्र होता। इन विषयों के संबंध में मित्र बाबू के संभाषण से मुझे बहुत लाभ हुआ। ऐसे बहुत ही थोडे विषय थे जिन का उन्होंने परिश्रम पूर्वक अध्ययन नहीं किया हो। वे जिस विषय का परिश्रम पूर्वक अध्ययन करते उस को विशद करने की बडी अच्छी कला उन्हें प्राप्त थी।

हमने जो परिषद् स्थापित करने का प्रयत्न किया था, उस के कामों के लिये दूसरे सभासदों पर अवलंबित न रह कर यदि राजेन्द्र बाबू पर ही सब काम छोड दिया जाता तो आज साहित्य परिषद ने जो काम हाथ में ले रखे हैं वे सब उस एक ही व्यक्ति के कारण बहुत उन्नत अवस्था में पहुंचे हुए साहित्य परिषद को मिलते।

राजेन्द्रलाल पंडित थे और व्युत्पन्न थे। उनके शरीर का गठन भी भव्य था। चेहरे पर एक प्रकार का विलक्षण

तेज था। सार्वजनिक व्यवहार में बडे प्रखर थे, परंतु अपनी विद्वत्ता के अभिमान का कभी प्रदर्शन नहीं होने देते थे। और मेरे जैसे छोकरे से भी गहन विषयों पर चर्चा करने में कभी अपनी मानहानि नहीं समझते थे। अपने बडप्पन का ख्याल न कर मुझ से व्यवहार करते। इस व्यवहार का मैंने उपयोग भी किया और अपने पत्र 'भारती' के लिये उनसे लेख भी लिखाया। उनके समय में उनकी ही अवस्था के बहुत से बड़े बडे आदमी थे, परंतु उनसे परिचय करने में मुझे कभी साहस नहीं हो पाता, और यदि हो भी जाता तो राजेंद्रबाबू के समान मुझे उनसे प्रोत्साहन कभी नहीं मिलता।

जब वे म्युनिसिपल कार्पोरेशन और युनिव्हर्सिटी सिनेट के चुनाव में खडे होते तो प्रतिस्पर्धी के चेहरे पर हवाइयाँ उडने लगतीं, और भय से उसकी छाती धडकने लगती थी। उस समय 'किष्णोदास पाल' चतुर मुत्सद्दी थे और राजेंद्रलाल मित्र रणशूर योद्धा।

'रायल एसियाटिक सोसायटी' पुस्तकों का संशोधन और प्रकाशन किया करती थी। इस कार्य के लिये केवल शारीरिक परिश्रम करने वाले कई संस्कृत पंडित नियत करने पड़ते थे। इस कारण कई क्षुद्र-बुद्धि के ईर्षालु लोग, मित्र बाबू पर यह आरोप किया करते थे कि संशोधन का सब काम पंडितों से करवा कर राजेन्द्रलाल स्वतः श्रेय लेने को तैयार रहते हैं।

किसी काम की जबाबदारी शिर पर उठा कर उसकी सिद्धि का श्रेय लेने वाले लोगों को केवल मंदिर की प्रतिमा समझने वाले व्यक्ति कई बार समाज में दिखलाई पड़ते हैं। ऊपर कहे हुए लोग भी इसी श्रेणी के थे। शायद गरीब बेचारी लेखनी को भी यदि वाणी होती तो अपने भाग्य में काली स्याही और लेखक के भाग्य में कीर्ति की शुभ्र पताका देख कर खेद प्रगट करने का प्रसंग आया होता।

आश्चर्य है कि मृत्यु के बाद भी इस असामान्य व्यक्ति को उसके देशवासियों की ओर से जैसा चाहिये, आदर नहीं मिला। संभव है इसका एक कारण यह भी हो कि उनकी मृत्यु के थोडे दिनों बाद ही ईश्वरचंद्र विद्यासागर की मृत्यु हुई थी। और उससे सारा देश शोकग्रस्त हो गया था। इस कारण देश को राजेन्द्रलाल के प्रति आदर व्यक्त करने का अवसर ही न मिला हो। दूसरा भी एक कारण हो सकता है कि उनके सब लेख प्रायः दूसरी भाषाओं में होने के कारण उनका संबंध लोग-गंगा से जैसा चाहिये नहीं हो सका हो।

प्रकरण छत्तीसवां

कारवार।

कलकत्ते के सदर रास्ते पर रहना छोडकर फिर हम सब लोग समुद्र के पश्चिम किनारे के 'कारवार' शहर में

रहने को चले गये। बंबई प्रांत के दक्षिणी विभाग में कनडा जिले का यह शहर मुख्य स्थान है। संस्कृत साहित्य में मलय पर्वत के बीच के जिस प्रदेश का बारबार उल्लेख हुआ है उसी का यह भी एक भाग है। यहां बेलादोना की बेलें और चंदन के वृक्ष बहुतायत से पाये जाते हैं। उन दिनों मेरे बड़े भाई वहाँ न्यायाधीश थे।

इस छोटे से बंदर को टेकडियों ने घेर रखा है। यह बंदर ऐसे कोने में और एकांत स्थान में है कि वहां बंदर होने का कोई चिन्ह नहीं दिखता। अर्द्धचन्द्राकृति का तट ऐसा मालूम होता है मानो उसने समुद्र में अपनी भुजाएं ही फैला रखी हों। इस वालुका मय विस्तीर्ण तट पर नारियल, ताडी आदि के वृक्षों का अरण्य ऐसा मालूम होता है मानो अनंत को धुत्कारने के प्रयत्न में उत्सुक हों। इस अरण्य में काली नदी बहती है जो इसी तट पर आकर समुद्र में मिल गई है। यह नदी समुद्र में मिलने के पहिले दोनों किनारों पर की टेकडियों के बीच में से छोटे से पाट में बहती हुई आई है।

मुझे स्मरण है कि एक बार चांदनी रात में हम लोग छोटीसी नाव में बैठकर नदी के ऊपर की ओर गये थे। रास्ते में हमें शिवाजी का एक पहाडी किला मिला। उस के नीचे हम लोग रुके और किनारे पर उतर कर जरा आगे बढे। एक किसान का झाडझूड कर साफ किया हुआ आंगन मिला।

वहां एक जगह पसंद करके हम लोग बैठे। चंद्र का प्रकाश पड रहा था। बैठकर हमने अपने साथ वाले खाने पीने के सामान पर हाथ साफ किया। लौटते समय नदी के प्रवाह के साथ साथ हमने अपनी नाव छोड दी। सम्पूर्ण अचलायमान टेकडियों, अरण्यों और शांति से बहने वाली काली नदी पर चंद्र प्रकाश रूपी अस्त्र फेंक कर रात्रि ने अपना शासन जमा रखा था।

नदी के मुँह तक जाने में हमें बहुत समय लगा। इसलिये समुद्र के रास्ते से न लौटकर हम वहीं नाव से उतर पडे और फिर बालुका मय प्रदेश-स्थल-रास्ते से घर को लौटे। उस समय रात्रि बहुत बीत चुकी थी। समुद्र शांत था। उसपर एकभी, लाट नहीं उठती थी। सदा हवा से हिलकर आवाज करने वाले ताड वृक्ष भी इस समय निस्तब्ध थे। विस्तृत बालुकामय प्रदेश के आजू बाजू की वृक्ष—राजी की छाया भी निश्चल थी। और क्षितिज से मिली हुई काले रंग की टेकडियां वर्तुलाकृति में आकाश की छत्र छाया में शांत चित्त से निद्रा ले रही थीं।

इस सर्वत्र फैली हुई निस्तब्धता और स्फटिकवत् चंद्र प्रकाश में हम मुट्ठी भर मनुष्य भी मुँह से एक अक्षर भी न निकालते हुए चुपचाप चले जा रहे थे। हमारे साथ केवल हमारी छाया जरूर थी। हम घर पहुँचे और बिस्तरे पर पड रहे, परंतु मुझे नींद ही नहीं आती थी। अपने से भी अधिक

किसी गूढ और गहन विषय में मेरी निद्रा शायद विलीन होगई थी। उस समय मैंने एक कविता रची। यह कविता अति दूरस्थित समुद्र तट की रात्रि से एक मेक होगई है। जिस स्मृति ने उस काव्य की रचना की, मेरे पाठक उससे अपरिचित हैं। अतः कह नहीं सकता कि वह कविता मेरे पाठकों के हृदय से किस तरह भिड सकेगी। मोहित बाबू ने जो मेरे काव्यों का संग्रह प्रकाशित किया था, शायद इसी भय से उसमें भी इस कविता को उन्होंने स्थान नहीं दिया था। मैं अपनी 'जीवन-स्मृति' में उसे स्थान देना उचित समझता हूँ। और पाठक भी ऐसाही समझेंगे ऐसी मुझे आशा है। (हिन्दी पाठकों को बंगाली कविता का आनंद न आने से यहाँ वह कविता नहीं दी गई)।

यहां पर यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि भावनाओं से जब मन भर जाता है तब लेखनी से कुछ बाहिर निकल ही पडता है। परंतु इतने ही कारण से वह लेखन उत्तम रीति का नहीं माना जा सकता। अपन जो कुछ लिखते और बोलते हैं उस पर मनोविकारों की छटा फैली रहती है। प्रगट करने योग्य मनो भावनाओं से अलिप्त रहना कभी ठीक नहीं हो सकता। इसी तरह मनोभावनाओं में सर्वथा तल्लीन होजाना भी अनुचित है। यह कवित्व के लिये पोषक नहीं हो सकता। कवित्व रूपी चित्र में रंग भरने के लिये स्मृति रूपी तूलिका-कूँची-ही समर्थ है। मनोभावनाओं के

निकट सानिध्य से कल्पना जकड जाती है, और उसपर दबाव आकर पड जाता है। मनोविकारों के बंधनों को तोड-कर उन्हें दूर करे बिना कल्पना शक्ति स्वतंत्रता पूर्वक विहार नहीं कर सकती। यह नियम केवल काव्य-शक्ति को ही लागू नहीं है प्रत्युत प्रत्येक कला के लिये भी यही नियम है। कला-कुशल मनुष्य को प्रयत्न करके थोडी बहुत अलिप्तता प्राप्त कर लेना आवश्यक है। अपनी कला के सर्व साधारण नियमों के गुलाम होजाना उचित नहीं है।

प्रकरण सैंतीसवाँ

प्रकृति प्रतिशोध।

'कारवार' में रहते हुएही मैंने 'प्रकृति प्रतिशोध' नामक नाटिका लिखी। इसका नायक एक सन्यासी था। सम्पूर्ण कामनाओं और प्रेमोत्पादक वस्तुओं के बंधन से मुक्त होकर प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के वह प्रयत्न में था। उसका विश्वास था कि मिथ्या जगत के बंधनों को तोडने से आत्मा का वास्तविक रहस्य और ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस नाटिका की नायिका एक बालिका कुमारी थी। यह उस सन्यासी को फिर अपने पूर्वाश्रम में खींच लाई। अनंत के साथ वाले व्यवहार से उस सन्यासी को विमुख कर पुनः मानवी प्रेम बंधन और इस संसार में ला पटका। पूर्वाश्रम में

लौट आने पर उस सन्यासी को मालूम पडा कि "छोटे में ही बडा मिलेगा। साकार में अनंत की निराकारता विलीन होती हुई दिखलाई पडेगी और आत्मा का नित्य स्वातंत्र्य, प्रेम के मार्ग में प्राप्त होगा।" वास्तव देखा जाय तो प्रेम के प्रकाश में ही संसार के बंधन अनंत में विलीन होते हुए अपने को दिखलाई पडेंगे।

सृष्टि का सौंदर्य कल्पना-निर्मित मृगजल नहीं है। उसमें अनंत का आनंद पूर्णतया प्रतिबिंबित हो रहा है। इस आनंद में तल्लीन होकर मनुष्य किस प्रकार अपने आपको भूल जाता है, इसका अनुभव प्राप्त करने के लिये 'कारवार' का समुद्र तट एक योग्य स्थान है। जब सृष्टि अपने नियमन रूपी जादू के द्वारा अपना परिचय कराती है तब 'अनंत' की अनंतता हमसे छुपी नहीं रह सकती। उस समय यदि सृष्टि के क्षुद्र पदार्थों के साथ संबंध होते ही उनके सौंदर्य से मन प्रसन्न हो जाय तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ?। परिमित के सिंहासन पर विराजमान अनंत का परिचय प्रकृतिने सन्यासी को प्रेम मार्ग के द्वारा करवा दिया। 'प्रकृति प्रतिशोध' में दो प्रकार के, एक दूसरे से विरुद्ध, चित्र चित्रित किये गये हैं। एक ओर रास्ता चलने वाले पथिक और गावों के लोगों का चित्र। दूसरी ओर ऊपर कहे हुए सन्यासी का। रास्ता चलने वाले पथिक और ग्रामीण लोग किस प्रकार होते हैं, यह बात सब जानते हैं। वे अपने क्षुद्र काम में तल्लीन रहने वाले और

अपने घरेलू कामों के सिवाय दूसरे कामों की रत्ती भर भी कल्पना जिन्हें नहीं है, ऐसे होते हैं। ये लोग भाग्य से प्राप्त परिस्थिति में संतोष मानते और अपने बालबच्चे, ढोर ढंगर, खेती बाडी, उद्योग धंदे में ही व्यस्त रहते हैं। इस प्रकार सृष्टि पदार्थों से स्नेह रखकर उनमें आत्मभाव स्थापित करने वाले इन लोगों का चित्र एक ओर, और दूसरी ओर सर्व संग परित्याग करने में व्यस्त और अपनी ही कल्पना से उत्पन्न तथा पूर्णत्व प्राप्त अनंतत्व के प्रति अपना सर्वस्व और अपने आपको अर्पण करने के लिये तत्पर सन्यासी का चित्र। इस प्रकार के एक दूसरे से विरुद्ध दो चित्र उस नाटिका में चित्रित किये गये थे। अंत में जाकर नाटिका में यह दिखलाया गया है कि परिमित और अनंत इन दोनों के बीच में रहे हुए अंतर पर प्रेम का पुल बांधा गया और उसके कारण आकस्मिक रीति से परिमित और अनंत का सम्मेलन होगया। संन्यासी और गृहस्थी परस्पर में छाती से छाती लगाकर मिले। ऊपरी तौर पर दिखलाई पडने वाली परिमित की निःसारता और अपरिमित की शुष्कता, दोनों ही नष्ट होगई।

मेरे निज के अनुभव की भी प्रायः यही दशा है। केवल उसके स्वरूप में थोडासा अंतर है। बाह्य जगत से संबंध तोडकर जगत से अत्यंत दूरी पर स्थित गहन गुफा में जाकर मैं बैठ गया। वहाँ इसी प्रकार का देह भाव नष्ट करने वाला

किरण आ पहुँचा। और उसने मुझे फिर जगत से मिला दिया 'प्रकृति प्रतिशोध' नाटिका मेरे भविष्य जीवन के वाङ्मय व्यवसाय की प्रस्तावना ही थी। क्योंकि इसके आगे के मेरे सब लेखों में प्राय: इसी बिषय की चर्चा हुई है। अर्थात् परिमित में अपरिमित खोजना और आनंद प्राप्त करना ही उन लेखों का ध्येय रहा है।

'कारवार' से लौटते हुए रास्ते में जहाज पर "प्रकृति प्रतिशोध" के लिये मैंने कुछ पद्य तैयार किए। पहला ही पद प्रथम मैंने गाया फिर उसे लिख डाला। उस समय मुझे अत्यंत आनंद हुआ।

उस गायन का भाव यह है कि:—"सूर्य उदीयमान है। फूल फूल रहे हैं। ग्वालों के बालक गायों को चराने के लिये ले जा रहे हैं। वनश्री पूर्ण शोभायमान है, परंतु ग्वाल बालों को उससे आनंद प्राप्त नहीं होरहा है। और न वे गायों को चरते हुए छोडकर मन माने ढंग से खेल ही रहे हैं। उन्हें इस समय अटपटा सा मालूम होता है। मन में उदासी है। यह सब क्यों?—इस लिये कि उनका साथी श्याम (कृष्ण) उन के बीच में नहीं हैं। उसके लिये उनका मन छटपटा रहा है। प्रकृति के इस सौंदर्य में वे कृष्ण के रूप में अनंत को देखना चाहते हैं। वे इतने सवेरे अनंत के साथ खेल खेलने को उठे हैं। दूर से ही देखकर अथवा उसके प्रभाव से प्रभावित होकर

अनंत का गुणगान करना वे नहीं चाहते। न इस संबंध में उनके हृदय रूपी बही में कुछ 'जमा' 'नावें' ही है। उन्हें तो केवल एक सादा पीत-वस्त्र और वन-पुष्पों की माला की जरूरत है। इसी सादे रूप में वे अनंत का दर्शन कर सकते हैं। जहां चारों ओर आनंद का साम्राज्य फैला हुआ हो वहां उसकी प्राप्ति के लिये परिश्रम करना अथवा बड़ी धामधूम से प्रयत्न करना उस आनंद पर पानी फेरना है। वहाँ तो सीधे सादे रूप में ही उसका दर्शन स्पर्शन हो सकता है और वही ग्वाल-बाल चाहते हैं।"

'कारवार' से लौटने पर मेरा विवाह हुआ उस समय मेरी अवस्था बावीस वर्ष की थी।

प्रकरण अड़तीसवाँ

चित्र और गायन!

इस समय मैंने जो कविताएँ लिखीं उस पुस्तक का नाम "छबी ओ गान" (चित्र और गायन) रखा था। उस समय हम लोअर सरक्यूलर रोड पर रहते थे। हमारे घर में एक बाग था और उसके दक्षिण की ओर एक बड़ी "बस्ती"*

* जहाँ कवेलू से छाये हुए बहुत-घन घर होते हैं और बीच बीचमें छोटी छोटी गलियाँ होती हैं, शहर के उस स्थान को यहां बस्ती कहा गया है। कलकत्त में पहिले ऐसी बस्तियां बहुत थीं।

थी। मैं कई बार खिडकी में बैठकर इस गजगजाती हुई वस्ती के दृश्य देखा करता था। अपने अपने काम में तल्लीन मनुष्य, उनके खेल, उनके विनोद, इधर उधर आना जाना, आदि देखकर मुझे बडा आनंद प्राप्त होता और एक चलती फिरती कथा का भास होता था।

किसी एक बात की ओर भिन्न भिन्न दृष्टि-बिंदुओं से देखने की शक्ति इस समय मुझमें विशेष रूप से थी। मैंने अपनी कल्पना के प्रकाश और हृदय के आनंद के द्वारा छोटे छोटे चित्र बना डाले थे। और प्रत्येक चित्र में उसकी विशेषता क अनुसार करुण रसके द्वारा एक दूसरे से भिन्न रंग भरे गये थे। इस प्रकार प्रत्येक चित्र भिन्न भिन्न रूप से सजाना, चित्र में रंग भरने के ही समान आनंद दायक था। क्योंकि दोनों कार्य एक ही इच्छा के फल थे। नेत्रों से जो दिखता है, उसे मन देखना चाहता है और जिसकी मन कल्पना करता है; उसे नेत्र देखना चाहते हैं। मैं यदि चित्रकार होता तो अपने मन के द्वारा बनाई हुई सम्पूर्ण कृतियों और सम्पूर्ण दृश्यों में कूँची से रंग भरकर उनका स्थायी स्मारक बना डालता। परंतु मुझे यह साधन प्राप्त होने योग्य नहीं थे। मेरे पास तो ताल और स्वरही साधन थे। और इन साधनों से स्थायी ठप्पा उठाना भी मैं सीखा नहीं था। निश्चित मर्यादा से बाहर भी रंग फैल जाया करता था। परंतु जिस

प्रकार छोटे छोटे लडके चित्र-कला का शुरू में अभ्यास करते समय अपनी रंग की पेटी का लगातार उपयोग करते हैं उसी प्रकार मैं भी अपने नूतन तारुण्य के विविध रंगों से सुसज्जित कल्पना-चित्रों को रंगने में दिन के दिन व्यतीत कर देता था। मेरी अवस्था के बावीसवें वर्ष के प्रकाश में यदि वे चित्र देखे जाँय तो अभी भी उनका कुछ भाग अटपटी आकृति और पुछे पुछाये रंग के रूप में दिखलाई पडेगा।

मैं पहिले कह चुका हूँ कि मेरे साहित्यिक जीवन का प्रथम भाग 'प्रभात संगीत' के साथ साथ समाप्त हो गया था और उस के आगे के भाग में भी मैंने वही विषय दूसरे रूप में चालू रखा। मेरा यह विश्वास है कि इस भाग के कई पृष्ठ बिल कुल ही निरुपयोगी हैं। किसी भी नवे कार्य को प्रारंभ करते समय कुछ बातें योंही-फिजूल-करना पड़ती हैं। यही यदि वृक्ष के पत्ते होते तो उचित समय पर सूख कर झड़जाते परंतु पुस्तकों के पत्ते तो ग्रंथ कार के दुर्दैव से आवश्यकता न होते भी पुस्तक से चिपट कर लगे रहते हैं। इस कविता का मुख्य गुण यह था कि इसमें छोटी से छोटी बात पर भी ध्यान दिया गया था। ठेठ हृदय में उत्पन्न भावनाओं के रंग में इन तुच्छ बातों को रंग कर उन्हें महत्वपूर्ण बनाने का एक भी अवसर मैंने इस 'छबि ओ गान' नामक पद्य में नहीं खोया। इतना ही क्यों, जिस समय मन के तार की विश्व के गान के साथ एक

तानता होती है उस समय विश्व गायन का प्रत्येक नाद, प्रतिनाद उत्पन्न कर सकता है और इस प्रकार से अंतरगान के प्रारंभ होने पर फिर लेखक को कोई भी बात और कोई भी प्रसंग निरर्थक प्रतीत नहीं होता। जो जो मैंने अपने नेत्रों से देखा, अंतरंग उस सब को स्वीकार करता गया। रेती, पत्थर, ईंट जो मिले उससे छोटे बालक खेलने लगते हैं। वे यह नहीं सोचते कि ईंट का डला किस काम का और रेती से कैसे खेला जाय। इस का कारण यह है कि इन की आत्मा उस समय क्रीड़ा मय होती है। उसी प्रकार जब हम तारुण्य के नवीन संगीत से पूरित हो जाते हैं तब हमें यह मालूम होता है कि विश्व वीणा के सुरीले तार सर्वत्र फैले हुए हैं। अपने हाथ के क्या और दूरस्थ क्या, किसी भी तार पर हाथ रखो, उस से सुस्वर ध्वनि निकले ही गी।

प्रकरण उनचालीसवाँ

कुछ बीच का समय।

"छबि ओ गान,, और "कड़ी ओ कोमल" इन दोनों रचनाओं के बीच के समय में "बालक" नामक बालकों का मासिक पत्र प्रकाशित हुआ, और एक छोटे से पौधे के गल जाने के समान वह थोड़े से समय में बंद भी होगया। मेरी दूसरी बहिन की बालकों के लिये सचित्र मासिक पत्र प्रकाशित करने

की बड़ी इच्छा थी। अतएव उस ने इस प्रकार के मासिक पत्र के प्रकाशन की बात चीत शुरू की। उस की पहिली कल्पना यह थी कि कुटुम्ब के छोटे छोटे बालक ही उस के लिये लेख लिखें और वे ही उसका संचालन करें। परतु इस योजना के सफल होने में संदेह प्रतीत होने पर वह स्वयं ही उस की संपादक बनी और मुझ से लेखों द्वारा सहायता करने के लिये कहा। इस प्रकार उस 'बालक' का जन्म हुआ। पहला या दूसरा अंक निकलने के बाद मैं राजनारायण बाबू से मिलने योंही देवगढ चला गया था। वहां थोडे दिन रह कर मैं लौटा। रास्ते में बडी भीड थी। किसी तरह एक डिब्बे में उपर की बैठक पर मुझे जगह मिली। मेरे सिर पर ही रोशनी थी। उस पर कोई ढक्कन न होने से उस का तीव्र प्रकाश मेरे चेहरे पर पडता था। अतः मुझे नींद नहीं आई। मैंने विचार किया कि 'बालक' के लिये कोई कहानी लिखूं। कहानी के लिये कथानक सोचने का यह ठीक अवसर है। मैंने इस के लिये खूब प्रयत्न किया परंतु कोई कथानक ध्यान में नहीं आया। हां, नींद जरूर आगई। कुछ देर बाद मैंने एक स्वप्न देखा कि "एक देव मंदिर की सीढियां बध किये हुए प्राणियों के रक्त से लथपथ हो रही हैं। एक छोटी लडकी अपने पिता के पास खडी होकर करुणामय शब्दों में कह रही है– "पिताजी यह क्या? यहां रक्त कहांसे आया?"। उसका पिताभी भीतरही भीतर अधीर हो रहा है, परंतु वह अपनी स्थिति

प्रगट न होने देकर वालिका को चुप करने का प्रयत्न करता है " वस इस के आगे मेरी नींद खुल गई। मुझे कहानी के लिये मसाला मिल गया। यही क्यों, मुझे कई कहानियों के लिये इसी तरह स्वप्न में कथानक सूझे हैं। मैंने अपना यह स्वप्न टिपरा के राजा माणिक के चरित्र में मिला कर 'कहानी' लिख डाली। इस का नाम रखा 'राजर्षि'। वह 'वालक' में क्रमशः प्रकाशित हुई।

मेरे जीवन का यह समय चिंता से बिल्कुल विहीन था। मेरे पीछे किसी भी तरह की चिंता न थी। मेरे इस जीवन के लेखों अथवा कहानियों में किसी भी प्रकार की चिंता दिखलाई नहीं पडती। जीवन रूपी मार्ग के पथिकों के झुंड में मैं अव तक शामिल नहीं हुआ था। मैं तो इस मार्ग की ओर अपनी खिडकी में से झांक झांक कर देखने वाला एक प्रेक्षक था। मुझे अपनी खिडकी में से इधर से उधर अपने अपने कामों के लिये आने जाने वाले लोग दिखलाई पडते थे। और मैं अकेला अपने कमरे में बैठा हुआ देखता रहता था। हाँ, बीच बीच में वसंत अथवा वर्षा ऋतु बिना परवाना लिये मेरे कमरे में घुस आते और कुछ समय तक मेरे ही पास रहते।

मुझ से न केवल ऋतुओं का ही संबंध होता था किंतु कभी कभी समुद्र में भटकने वाले लंगर विहीन जहाज के

समान कितने ही लोग मेरी इस छोटी सी कोठरी पर आक्रमण करते और उन में से कुछ लोग मेरी अनुभव-हीनता से लाभ उठाकर और अनेक युक्ति प्रयुक्तियां लडा कर अपना काम बना लेने का प्रयत्न किया करते थे। वास्तव में देखा जाय तो मेरे द्वारा अपना काम बना लेने के लिये उन्हें इतना परिश्रम करने की जरूरत न थी। क्योंकि एक तो मुझ में जैसी चाहिये गंभीरता न थी और दूसरे मैं भावुक व्यक्ति था। मेरी निज की जरूरतें बहुत थोडी थीं। मेरा रहन सहन बिल्कुल सादा था। और विश्वस्त तथा अविश्वस्त लोगों को पहँचान लेने की कला मुझे बिल्कुल ही मालूम न थी। कई बार मेरी यह समझ हो जाती थी कि मैं विद्यार्थियों को जो फीस कीं सहायता देता हूं उसकी इन्हें उतनी ही जरूरत है जितनी कि उन की पढी हुई पुस्तकों की है।

एक बार एक लंबे वालों वाला तरुण अपनी बहिन का एक पत्र लेकर मेरे पास आया। उस पत्र में लिखा था कि इस तरुग की सोतेली माता इसे बहुत कष्ट देती है अतः इस को मैं अपने आश्रय में रखूं। पीछे से मुझे मालूम पडा कि कि उस तरुग व्यक्ति के सिवाय जो कुछ लिखा या कहा गया था, सब काल्पनिक था। बहिन काल्पनिक, सोतेली माता काल्पनिक और सब कुछ काल्पनिक। मालूम नहीं उसे इतने झगडे करने की क्या जरूरत मालूम पडी। अरे उड न

सकने वाले पक्षी की शिकार के लिये अमोघ अस्त्र चलाने की भला क्या जरूरत है ? ।

दूसरी बार फिर इसी तरह का एक तरूण मनुष्य मेरे पास आया और कहने लगा कि मैं बी. ए. का अभ्यास करता हूं परंतु मेरे मस्तिष्क में विकार होजाने के कारण परीक्षा देने में असमर्थ हूं । यह सुन कर मुझे बडा दुःख हुआ । वैद्यक शास्त्र में मेरी गति न होने के कारण मुझे यह नहीं सूझता था कि मैं इसे क्या उत्तर दूं । कुछ समय बाद उसीने कहा कि आप की स्त्री पूर्व जन्म की मेरी माता है, ऐसा मुझे स्वप्न में दिखा है । मुझे यदि उन का चरणामृत प्राशन करने को मिले तो मैं अच्छा हो जाऊं । इस बात पर वह अपना विश्वास प्रगट करने लगा । जब उसने देखा कि मुझपर इस का कुछ भी परिणाम नहीं होता तब अंतमें हंसते हंसते उस ने कहा कि संभवतः ऐसी बातोंपर आपकी श्रद्धा नहीं होगी । मैंने उत्तर दिया कि इस बात का मेरी श्रद्धा से कोई संबंध नहीं है, परंतु तुझें यदि यह बिश्वास है कि इस से तुम्हें लाभ होगा तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है । तुम बैठो, कहकर मैंनें अपनी स्त्री के पैरों का नकली चर्णामृत लाकर दे दिया । प्राशन करने के बाद उसने कहा कि अब मुझे तबियत ठीक मालूम होती है । पानी के बाद अन्न की स्वभावतः बारी आती है । यहां भी वही हुआ और भोजन की इच्छा प्रदर्शित कर वह मेरी कोठरी में जम गया । अंत

में उसकी धृष्ठता यहां तक बढ गई कि वह मेरी कोठरी में ही रहने लगा और अपने संग-साथियों को इकट्ठा कर धूम्रपान के सम्मेलन भरने लगा। अंत में धूम्र से भरी हुई उस कोठरी में से मुझेही भागना पडा। उसने अपने कार्यों से निःसंशय यह तो सिद्ध कर दिया कि उसका मस्तिष्क विकृत हो गया है परंतु उसका मस्तिष्क निर्बल अवश्य नहीं था।

इस अनुभव ने उक्त तरुण के मेरे पुत्र होने के संबंध में मेरा पूर्ण विश्वास करा दिया। इस घटना से मैं समझता हूं कि मेरी कीर्ति भी बहुत फैल गई थी। तभी तो कुछ दिनों बाद मुझे फिर एक लडकी का (मेरी स्त्री के पूर्व जन्म की लडकी का) एक पत्र मिला। परंतु इस बार तो मैंने चित्त को दृढ करके शांति के साथ इस बात को टाल दी।

इन दिनों बा० श्रीशचन्द्र मजूमदार से मेरा स्नेह संबंध शीघ्रता से बढ रहा था। प्रतिदिन शाम को प्रिय बाबू और श्रीशचन्द्र मजूमदार मेरे पास इस छोटी सी कोठरी में आते और हम तीनों बहुत रात बीते तक साहित्य और संगीत पर मन मानी चर्चा किया करते। कई बार तो इस प्रकार के वाद विवाद में दिन दिन भर लग जाता था। बात यह है कि इस समय तक मेरे जीवन की कोई रूप रेषा नहीं बनी थी, इस कारण उसे निश्चित और बलवान स्वरूप भी प्राप्त नहीं हुआ था। यही कारण है कि मेरा जीवन शरद्काल के निःसत्व और हलके मेघों के समान मारा मारा फिरता था।

प्रकरण चालीसवां

बंकिमचन्द्र ।

इन्ही दिनों बंकिम बाबू के साथ मेरा परिचय होना प्रारंभ हुआ । यों तो मैंने उन्हें कई दिनों पहिले ही देख लिया था । कलकत्ता विश्व-विद्यालय के भूत पूर्व विद्यार्थियों ने अपना एक सम्मेलन करने का विचार किया था । इसके एक अगुआ बाबू चन्द्रनाथ वसु भी थे । आगे पीछे मुझे भी उन्हीं में का एक होने का अवसर प्राप्त होगा, संभवतः ऐसा उन्हें मालूम हुआ होने के कारण अथवा दूसरे कोई कारण से उन्होंने एक अवसर पर अपनी कविता पढने के लिये मुझसे निवेदन किया । चन्द्रनाथ बाबू उस समय बिल्कुल नवयुवक थे । मुझे ऐसा स्मरण है कि शायद उन्होंने एक जर्मन-युद्ध-गीत का अंग्रेजी में अनुवाद किया था और उसे वे उक्त सम्मेलन में पढ कर सुनाने वाले थे । इसकी तालीम के लिये वे हमारे यहां आये और बडे उत्साह के साथ उन्होंने वह गीत हमें बार बार सुनाया । एक सैनिक के, अपनी प्यारी तलवार को उद्दिष्ट करके रचे हुए गीत में चन्द्रनाथ बाबू को तल्लीन होते देख कर पाठक सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि चन्द्रनाथ बाबू तरुण थे और तारुण्य के उत्साह ने उन पर अधिकार जमा रखा था । इस के सिवाय सचमुच वे दिन भी कुछ दूसरे ही प्रकार के थे ।

विद्यार्थी सम्मेलन की भीड़ भाड़ में इधर उधर फिरते फिरते मुझे एक विशेष व्यक्ति दिखलाई पड़ी। यहाँ एकात्रित मनुष्यों में अथवा दूसरी भी जगह यह व्यक्ति छुप नहीं सकती थी। वह तो तुरंत ही आँखों में भरजाती थी। क्योंकि वह भव्य, ऊँची, और अच्छे गठन वाली थी। उस का तेजःपुंज व प्रभावशाली चेहरा देखकर उस के विषय में मैं अपनी जिज्ञासा तृप्त किये बिना न रहसका। जिस का नाम जानने की मुझे इतनी छटपटाहट थी, वह बंकिमबाबू हैं, ऐसा जब मुझे मालूम हुआ तब मेरे आश्चर्य की सीमा ही न रही। लेखन के समान उन की आकृति का भी सतेज और उठाव दार होना यह एक चामत्कारिक और अननुभूत संयोग था। उन की वह सरल और गरुड के समान नासिका, दबे हुए ओंठ, और तीक्ष्ण दृष्टि, यह सब उन की मर्यादा रहित शक्ति के द्योतक थे। अपनी छाती पर भुजाओं को मिलाकर उस भीड़ में उन्हें अकेले फिरते हुए देखकर मैं उन के प्रति तल्लीन होगया। उत्कृष्ठ बुद्धिमत्ता का वह एक बड़ा सा संग्रह दिखलाई पड़ता था। और उच्च श्रेणी के मनुष्यत्व–के चिन्ह उन के मस्तिष्क पर स्पष्ट दिखलाई पड रहे थे।

इस सम्मेलन के अवसर पर एक ऐसी छोटी सी बात हुई जिस का चित्र मेरे स्मृति पटल पर स्वच्छ रूप से उघड़ आया है। वह यह कि एक दालान में एक पंडितजी अपनी बनाई हुई

संस्कृत कविताएं श्रोता जनों को सुना रहे थे और बंगाली भाषा में उनका भाव समझाते जाते थे उनमें एक उल्लेख ऐसा आया जो यद्यपि अत्यन्त बीभत्स तो नहीं था परंतु घृणित जरूर था। जब पंडितजी उस उल्लेख का भाष्य करने लगे तो बंकिमबाबू अपने हाथों से अपना मुँह ढाँक कर वहाँ से चले गये। मैं दरवाजे पर खड़ा हुआ यह सब देख रहा था। अभी भी दालान से निकलती हुई उस समय की उन की रोमांचित मूर्ति मेरे नेत्रों के आगे खड़ी हो जाती है।

इस सम्मलेन के बाद उन के दर्शनों के लिये मैं अत्यंत उत्सुक होगया। परंतु उन से मिलने का अवसर नहीं मिला। अंत में एकबार जब वे हावरा में डिपुटी मॅजिस्ट्रेट थे मैं बडी धृष्ठता पूर्वक उन के पास गया। मुलाकात हुई और बडे प्रयत्नों से उन के साथ बात चीत करने का मुझे साहस हुआ। विना बुलाये, बिना किसी के द्वारा परिचय हुए, इतने बडे मनुष्य से अपने आप मिलने जाना उच्छृंखल तरुण का ही काम हो सकता है, ऐसा जानकर मुझे बडी लज्जा मालूम होने लगी।

कुछ वर्ष बाद मैं थोडा बडा होगया तो मेरी गणना साहित्य भक्तों में—छोटी अवस्था का साहित्य भक्त—इस दृष्टि से होने लगी। गुण की दृष्टि से तो मेरा नंबर अभी भी निश्चित नहीं था। मेरी जो थोडी बहुत कीर्ति फैली थी उस के संबंध में यह मत था कि उसका कारण प्रायः संशय और लोगों

की कृपा है। उस समय बंगाल में यह रिवाज होगया था कि अपने यहां के प्रसिद्ध कवियों को पाश्चिमात्य कवियों का नाम दिया जाय। इस रीति से एक कवि बंगाल का "वायरन" हुआ। दूसरा 'इमर्सन' माना जाने लगा। किसी को 'बर्डस्वर्थ' बनाया और कुछ लोग मुझे 'शेले' कहने लगे। वास्तव में यह 'शेले' का अपमान था और मेरी डबल हंसी का कारण।

मेरा छोटासा सर्वमान्य नाम था 'तोतला कवि'। मेरा ज्ञान-संचय बहुत ही थोडा था और जगत का अनुभव तो नाम मात्र को भी नहीं। मेरे गद्य पद्य लेखों में तत्वार्थ की अपेक्षा भावनाओं को ही अधिक स्थान प्राप्त था। इसका यह परिणाम होता कि मेरे लेखों में मन को संतोष कारक स्तुति करने योग्य कोई वात किसी को नहीं मिलती। मेरी पोशाक और चाल ढाल भी विसंगत थी। लंबे लंबे बाल मैंने रखाये थे। सारांश यह कि 'कवि' को शोभा देने योग्य मेरी चालढाल नहीं थी। एक शब्द में मेरा वर्णन किया जाय तो वह शब्द 'विक्षिप्त' हो सकता है। साधारण मनुष्य के समान दैनिक सांस रिक व्यवहारों से मेरा मिलान होना कठिन था।

इन्हीं दिनों बाबू अक्षय सरकार ने 'नव जीवन' नामक समालोचना संबंधी मासिक पत्र प्रकाशित करना शुरू किया। मैं भी इसमें बीच बीच में लेख दिया करता था। बंकिम

बाबू ने बंग दर्शन का संपादकत्व अभी छोडा ही था। वे धार्मिक चर्चा में लग गये थे और इसके लिये 'प्रचार' नामक मासिक पत्र निकाला था। इसमें भी मैं कभी कभी कविता भेजा करता था और कभी वैष्णव कवियों की स्तुति से भरे हुए लेख भी भेजता रहता था।

अब मैं बंकिमबाबू से बारबार मिलने लगा। उन दिनों वे भवानीदत्त स्ट्रीट में रहते थे। यद्यपि मैं उनसे बारबार मिलता जरूर था परंतु हमारा संभाषण आपस में बहुत कम होता था। उन दिनों मेरी अवस्था बोलने के नहीं सिर्फ सुनने के योग्य थी। यद्यपि वाद विवाद करने की मुझे हुमहुमी आती और वाद विवाद शुरू करने के लिये मैं छटपटाने भी लगता परंतु अपने सामर्थ्य का अविश्वास मेरी बोलती बंद कर दिया करता था। कभी कभी संजीवबाबू (बंकिमबाबू के एक भ्राता) तकिये से टिक कर वहाँ लेटे हुए मुझे मिलते। उन्हें देखकर मुझे बडा आनंद होता। क्योंकि वे बडे आनंदी जीव थे। बात चीत से उन्हें बहुत ही आनंद होता। उनकी बातचीत विनोद-प्रचुर हुआ करती। जिन्होंने उनके लेख पढे होंगे उन्हें उनके सीधे सादे संभाषण के समान उनका लेखन प्रवाह भी सहज, सरल, और शांत दिखलाई पडा होगा। भाषण शक्ति की यह देन बहुत थोडे लोगों को प्राप्त होती है। और लेखों में भी उस शक्ति का स्पष्टीकरण करने की योग्यता तो उससे भी थोडे लोगों में।

इसी समय पं० शशिधर की प्रसिद्धि होने लगी। यदि स्मरण शक्ति ठीक है तो मैं कह सकता हूं कि बंकिमबाबू ही उन्हें सामने लाये। वे पाश्चात्य शास्त्रों की सहायता से अपने लुप्त प्राय महत्व को पुनः प्रस्थापित करने के पुराण मतवादी हिन्दुओं के प्रयत्न कर्ताओं में से थे। वे प्रयत्न सम्पूर्ण देश में शीघ्रता के साथ फैल गये। इसके पहिले से थियासोफी इस आन्दोलन की पूर्व तैयारी कर ही रही थी। बंकिमबाबू का इस ध्येय से पूर्णतः तादात्म्य नहीं हुआ था। बंकिमबाबू हिन्दू धर्म पर 'प्रचार' में जो लेख लिखते उस पर पं० शशिधर की नाम मात्र भी छाया नहीं पडती थी। और न ऐसा होना संभवनीय ही था।

मैं उस समय अपनी अज्ञान स्थिति में से बाहर आ रहा था। इस का प्रमाण वाग्युद्ध में फेंके हुए मेरे बाण देंगे। इन बाणों में कुछ उपहास जनक काव्य थे, कुछ विनोद युक्त प्रहसन और कुछ समाचार पत्रों को भेजे हुए मेरे पत्र। इस प्रकार भावना के बन में से निकल कर मैं अखाडे में उतर पडा। और युद्ध के जोशमें आकर बंकिम बाबू पर टूट पडा। इस घटना का इतिहास 'प्रचार' और 'भारती' में सन्निबद्ध है। अतएव उसकी पुनरुक्ति करने की यहां आवश्यकता नहीं। इस वादविवाद के अंत में बंकिम बाबू ने मुझे एक पत्र लिखा। दुर्दैव से वह पत्र कहीं खोगया। यदि वह पत्र आज उपलब्ध होता तो पाठक उस से भली

भांति यह जान सकते कि वंकिम बाबू ने अपने उदार अन्तः करण में से इस दुर्दैवी घटना की शल्य किस प्रकार निकाल डाली थी।

प्रकरण इकतालीसवां

निकम्मी जहाज।

किसी समाचार पत्र में विज्ञापन पढकर मेरे भाई ज्योतिरिंद्र एक नीलाम में गये। वहां से शाम को लौटने पर उन्होंने हम लोगों से कहा कि मैंने नीलाम में सात हजार रुपयों में एक पौलादी जहाज खरीदा है। जहाज था तो अच्छा परन्तु उसमें न तो एंजिन था और न कमरे। उस जहाज को सर्वांग परिपूर्ण करने के लिये सिर्फ उक्त बातों की ही जरूरत थी।

संभवतः उस समय मेरे इस भाई को यह मालूम हुआ होगा कि अपने देशवंधु केवल मुह से बड़बड़ाने वाले हैं। मुह और लेखनी को जोर शोर के साथ चलाने के सिवाय उन से और कोई काम नहीं होता। एक भी जहाजी कंपनी भारतीयों के हाथ में न होने से उन्हें बडी लज्जा प्रतीत हुई होगी। मैं पहले कह आयाहूं कि उन्हों ने एक बार आग काडी तैयार करने का प्रयत्न किया परंतु उन की काडियां सिलगती ही न थीं। इसी तरह भाफ से चलने वाला करघा खरीदा। उस पर भी कपडा बुन

ने का खूब प्रयत्न किया परंतु सफलता नहीं मिली। जैसे तैसे उसपर एक टाविल ही तैयार हो पाया और फिर वह सदा के लिये बंद हो गया। इस वार उनके मस्तिष्क में देशी जहाज चलाने की धुन पैदा हुई और ऊपर कहे अनुसार वे जहाज खरीद लाये। आगे जाकर क्रमशः आवश्यक यंत्र उसमें लगाये और कमरे बनाये गये। वह जहाज, यंत्र, कमरे आदि उप करणों से भर गई और कालांतर में हानि और विनाश से भी वह खूब भरी।

इतना होने पर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि इस प्रयत्न का कष्ट और हानि मेरे भाई को ही उठाना पडी परंतु उस अनुभव का लाभ देश के उपयोग में आया। वास्तव में व्यापारी-बुद्धि-विहीन, व्यवहार में हिसावी पद्धति न रखने वाले और देश हित की चिंता से छटपटा कर काम में लग जाने वाले व्यक्ति ही अपनी कार्य शक्ति से उद्योग धंदे के क्षेत्रों को सदा भरते रहते हैं।

ऐसे लोगों के कार्यों का पूर जितनी जल्दी आता है उतनी ही जल्दी वह उतर भी जाता है। परंतु पूर के साथ साथ जमीन को कसदार बनाने वाली मिट्टी का जो प्रवाह वहकर आता है वह पूर उतर जाने पर भी बच रहता ही है। झाड झंगड काट कूट कर जमीन को तैयार करने वाले का परिश्रम पीक (फसल) पैदा करते समय किसी के भी

ध्यान में नहीं आता। नवीन खोज करने वाले को जो परिश्रम, शक्ति, और धन का खर्च करना पडता है, यहां तक कि उस का सर्वस्व नष्ट हो जाता है; उस का लाभ उसे नहीं मिलता। केवल उस का अनुभव ही बच रहता है, जिसका उपयोग आगे की पीढी को होता है। कष्ट उठाकर पूर्वजों द्वारा लगाये हुए वृक्षों के मधुर फल चखते समय फिर उन पूर्वजों का स्मरण तक न होना, यह एक तरह से उन का दुर्दैव ही है। जीवन पर्यंत आनंद पूर्वक जबाबदारी और धोखे के कार्यों को जो मनुष्य सिरपर लेते और उनको करते हुए अपना सर्वस्व नष्ट कर देते हैं, उनके परिश्रम से लाभ उठाने वाले लोग उन्हें ही भूल जाते हैं। कम से कम मृत्यु के बाद इसका उन्हें कष्ट नहीं होता, यह एक दुःख में सुख ही समझना चाहिये।

भाई ज्योतिरिंद्र का प्रतिस्पर्धी बलवान था। एक ओर यह थे, दूसरी ओर यूरोपियन "फ्लाटिला कंपनी"। इन दोनों के व्यापारी जहाजों में कितना भारी संग्राम हुआ, यह बात खुलना और बरीसाल के लोग अब भी जानते और उसे कह सकते हैं। चढा ऊपरी के द्वंद्व युद्ध में एक के बाद एक जहाज खरीदे जाने लगे। एक की हानि में दूसरे की हानि बढी। इस प्रकार हानि रूपी इमारत के मंजिल पर मंजिल चढ़ने लगे। आगे जाकर तो ऐसा अवसर आया कि टिकिट छपाने लायक

पैसे भी उन से पैदा होना कठिन हो गया। खुलना और बरीसाल के बीच में चलने वाले जहाजों की कंपनियों का सुवर्ण युग शुरू हुआ। जहाजों में यात्री लोग मुफ्त बैठाये जाने लगे। इतना ही नहीं जहाजों पर उन के भोजनादि की भी व्यवस्था बिना किसी प्रकार का चार्ज लिये होने लगी। जब इतने से भी काम नहीं चला तब स्वयं सेवकों की सेना तैयार की गई। यह सेना हाथ में झंडा लेकर देशाभिमान के गीत गाते गाते यात्रियों को जुलूस के साथ साथ देशी जहाज पर ले जाने लगी। इतना होने से यात्रियों की तो कमी नहीं रही। हाँ, दूसरी सब बातों की कमी शीघ्रता के साथ बढने लगी।

देशाभिमानकी ज्योति जागृत रहने के कारण बेचारे व्यापारिक गणित को कहीं जगह ही नहीं रही। उत्साह की ज्वाज्वल्यता अधिकाधिक बढती गई और उसमें से देशाभिमान-पूर्ण पदों का सुस्वर आलाप निकलने लगा। परन्तु गणित के हिसाब में इस से कुछ भी फर्क नहीं पडता था। वह तो अपने ही सिद्धांत के अनुसार चल रहा था। तीन बार तीन जोडने से नौ ही आते थे। हाँ, अन्तर इतना ही था कि इस जहाजी कंपनी के हिसाब में यह जोड जमा की तर्फ न आकर नावें की तर्फ आता था। व्यापारी दृष्टि विहीन लोगों को सदा सताने वाली बात यह है कि दूसरे लोग उन्हें अत्यन्त

सुगमता से पहचान जाते हैं, पर वे दूसरों के स्वभाव को कभी नहीं पहचान पाते। अपने स्वभाव की इस न्यूनता को ढूंढने में ही उन का जीवन और उन के साधन समाप्त हो जाते हैं और इस कारण वे अपने अनुभव का लाभ उठा नहीं पाते। अस्तु। इस जहाज पर यात्रियों को तो मुफ्त में भोजन मिलता ही था पर साथ में कर्मचारियों को भी कभी भूखे रहने का अवसर नहीं आता था। हाँ, सब से बड़ा लाभ मेरे भाई को हुआ वह यह कि उन्होंने इस साहस में उठाई हुई हानि को शौर्य पूर्वक सहन किया।

प्रतिदिन रणभूमि—जहाजीस्थान—के जय पराजय के समाचारों से भरे हुए पत्र हम लोगों को अधीर करते रहते थे। अंत में एक ऐसा दुर्दिन ऊगा जिस दिन हावरा के पुल से टकरा कर हमारा जहाज जल-समाधिस्थ हो गया। हानि की शिखर पर कलश चढ गया। और इस कारण यह व्यापार बंद करने के सिवाय दूसरी गति ही न रही।

प्रकरण बयालीसवाँ

इष्ट वियोग।

इन्हीं दिनों में हमारे कुटुंब पर मृत्यु ने जो आक्रमण किया उस के पहले मैंने किसी की भी मृत्यु होते नहीं देखी

थी। जब मेरी माता का देहांत हुआ उस समय मैं बहुत छोटा था। वह बहुत दिनों से बीमार थी। परन्तु हमें यह तक मालूम नहीं पडा कि उस की बीमारी कब बढी। वह हमारे ही कमरे में दूसरे बिस्तरे पर सोया करती थी। मुझे याद है कि बीमारी में ही उसे एक बार नदी में नाव पर घुमाने के लिये ले गये थे और वहां से लौटने पर उसे तीसरे मंजिल के एक कमरे में रखा था।

जिस समय उस का देहावसान हुआ, हम नीचे की मंजिल के एक कमरे में गाढ निद्रा में सो रहे थे। याद नहीं उस समय कितने बजे थे। हमारी बुड्ढी दाईमां हुंकारा देती हुई उस समय हम लोगों के पास आई और कहने लगी "अरे बच्चो तुम्हारा सर्वस्व चलागया! अरे! देव तूने यह कैसा घात किया।" उस भयंकर समय में हमें दुःख का धक्का न बैठने पावे, इस लिये मेरी भोजाई उस पर नाराज हुई और उसे दूसरी जगह लेगई। उस के शब्द सुन कर मैं कुछ कुछ जाग पडा और मेरा हृदय धडकने लगा। डर के मारे आँखों के आगे अंधरी सी आने लगी पर खास बात मेरे ध्यान में उस समय तक भी न आई। सुबह उठने पर माता की मृत्यु के समाचार हमे मिले। परन्तु उन समाचारों से मेरा कितना और क्या संबंध है, यह मैं समझ नहीं पाया।

बरामदे में आकर मैं देखता हूं तो मेरी माता कांटों पर सुलाई गई है। उस के चेहरे पर मृत्यु का भय पैदा करने वाले कोई चिन्ह न थे। उस प्रात समय में मृत्यु का स्वरूप प्रशांत और स्वस्थ निद्रा के समान आल्हाद कारक था। जीवन और मृत्यु के गूढ अंतर की कोई छाप हमारे हृदय पर उस समय नहीं पडी थी।

बडे फाटक से माता का शव बाहर निकला। हम सब श्मशान में गये। उस समय इस फाटक में पुनः प्रवेश कर गृह-व्यवस्था में अपने स्थानपर मेरी माता अब फिर विराज-मान नहीं होगी, यह विचार आतेही मेरा हृदय शोक-सागर के तूफान में डगमगाने लगा। दिन की घडियाँ एक के बाद एक व्यतीत होने लगीं। संध्याकाल हुआ। हम लोग श्मशान से लौटे। अपने मुहल्ले में आतेही मेरी दृष्टि पिताजी के कमरे पर गई। वे बरामदे में अबतक उपासना में तल्लीन हुए निश्चल बैठे थे।

घर की सबसे छोटी बहूने हम मातृ-विहीन बालकों की सार संभाल का काम अपने हाथों में लिया। हमारे भोजन, कपडे लत्ते आदि की व्यवस्था उसने अपने ऊपर लेली थी। इसके सिवाय वह सदा हमें अपने ही पास रखती, जिससे कि हमें माता की याद न आने पावे। सजीव वस्तुओं में यह एक गुण होता है कि उपायातीत बातों को वे अपने आपही

ठीक कर लेती हैं और जिन बातों की पूर्ति नहीं हो सकती उन बातों को भुलाने में सहायता देती हैं। बाल्यावस्था में यह शक्ति विशेष होती है। इसीलिये कोईसा भी घाव इस अवस्था में गहरा नहीं हो पाता। और न कोई व्रण ही स्थायी हो पाता है। हमारे पर पडी हुई मृत्यु की यह छाया भी अपने पीछे अंधकार न छोडकर शीघ्रही नष्ट होगई। जैसे वह फैली वैसेही चली भी गई। छाया ही जो ठहरी!

जब मैं कुछ बडा हुआ तो वसंत ऋतु में जब कि वनःश्री अपने पूर्ण सौंदर्य से प्रफुल्लित रहती है, चमेली के कुछ फूल मैं अपने दुपट्टे के कोने में बांध लिया करता और पागल के समान इधर उधर भटकता रहता था। उन सुंदर कोमल कलियों का जब मेरे मस्तक से स्पर्श होता तो मैं समझता कि जैसे मेरी स्वर्गीया माता की अँगुलियों का ही स्पर्श हो रहा है। माता की उन कोमल अँगुलियों में भरा हुआ प्रेम और इन कोमल कलियों का प्रेम मुझे एकसा ही प्रतीत होता था। उन दिनों मुझे ऐसा भी प्रतीत होता था कि भले ही हमें मालूम पडे या न पडे अथवा प्राप्त हो या न हो, परंतु इस जगत में प्रेम लबालब भरा पडा है।

मृत्यु का उक्त चित्र मेरी बहुत छोटी अवस्था का है; परंतु मेरी अवस्था के चौबीसवें वर्ष में मृत्यु से मेरा जो परिचय हुआ वह चिरकाल से ज्यों का त्यों बना हुआ है। मृत्यु

एक के बाद एक आघात करती जा रही है और उसके कारण अश्रुओं का प्रवाह भी बह रहा है।

बाल्यावस्था में कोई चिंता नहीं रहती। यह अवस्था बडी बे परवाही की अवस्था है। बडे से बडे संकटों का थोडे ही समय में विस्मरण हो जाता है। परंतु अवस्था की वृद्धि के साथ साथ संकटों का विस्मरण करना भी अधिकाधिक कठिन हो जाता है। इसीलिये बाल्यावस्था रम्य और युवावस्था दुःखद मानी गई है। बाल्यावस्था में हुआ मृत्यु का आघात, मैं कभी का भूल गया परंतु प्रौढावस्था के आघात ने मेरे हृदय में बडा गहरा जख्म किया।

जीवन के सुख दुःख के अखंड प्रवाह में भी कभी रुकावट खडी हो जाती है, यह मैं अब तक नहीं जानता था। इसी कारण मैं जीवन को ही सर्वस्व समझता था। उसके सिवाय और कुछ नहीं है, यह मेरी दृढ भावना थी। परंतु जब मेरे कुटुंब में मृत्यु का आगमन हुआ तब उसने मेरे जीवन की शांतता के दो टुकडे कर दिये और उस कारण मैं हडबडा गया। मेरे चारों ओर सर्वत्र—वृक्ष, पक्षी, जल, सूर्य, आकाश, चन्द्र तारागण आदि सब चराचर पदार्थ पहले के ही समान जैसे के तैसे मौजूद थे। उनमें रंच मात्र भी अंतर नहीं पडा था। परंतु इन्हीं पदार्थों के समान सत्यता पूर्वक पृथ्वीतल पर रहने वाला तथा मेरे जीवन, आत्मा और हृदय

से परमार्थ रूप में संलग्न होने के कारण जिसकी सत्यता-मौजूदगी—मुझे अधिक परिज्ञात थी वही प्राणी क्षणमात्र में स्वप्न के समान नष्ट हो गया। जब मैंने अपने चारों ओर देखा तो मुझे आस पास की सारी बातें विसंवादपूर्ण-असत्य-प्रतीत होने लगीं। भला, गये हुओं का रहे हुओं से अथवा दृश्य का अदृश्य से मेल कैसे बैठाया जा सकता है?।

जीवन प्रवाह के टुकड़े हो जाने के कारण जो गहरी खोह हो गई उसने मुझे निविड़ एवं भयंकर अंधकार में ला पटका। वह अंधकार आगे जाकर मुझे रात दिन अपनी ओर खींचने लगा। मैं उस ओर बारबार जाने भी लगा और यह चिंतन करते हुए उस अंधकार को टकटकी लगाकर देखने लगा कि अदृश्य हुई वस्तुओं के स्थान की कौन सी वस्तुओं ने पूर्ति की है। शून्यत्व ऐसी ही चीज है। उसके अस्तित्व के सबंध में मनुष्य का विश्वास होना अशक्य है। जिस बात का अस्तित्व नहीं वह मिथ्या है। जो मिथ्या है उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। यह अपना विश्वास रहता है। अतःजहां कुछ भी नहीं दिखलाई पडता वहां कुछ न कुछ ढूंढने का हम लोग सदा प्रयत्न करते रहते हैं।

जिस प्रकार अंकुर, अंधकार में से प्रकाश में आने की खटपट करता है उसी प्रकार मृत्यु के द्वारा चारों ओर फैलाये हुए निवृत्ति रूप अंधकार से आत्मा घिरा हुआ होने

पर भी प्रवृत्ति के प्रकाश में आने की सदा खटपट करता रहता है। अंधकार के कारण अंधकार में से निकलने का मार्ग न मिलने के समान और दुःख क्या हो सकता है ? । ऐसे दुःखांधकार में भी मेरे हृदय में बीच बीच में आनंद के किरण फैलते और उन से मुझे आश्चर्य होता । मेरे मन का भार इसी एक दुःख दायक बात से हलका हुआ करता था कि जीवन स्थिर और अविनाशी नहीं है । किंतु वह अत्यंत क्षण भगुंर और चंचल है । यह विचार आनंद की लहरों पर लहरें उत्पन्न करते हुए वार बार मेरे सामने आ उपस्थित होता कि–" जीवन के मजबूत पत्थरी परकोटे के भीतर अपन सदा के लिये कैदी नहीं हैं । " जो चीज या वात को मैं पकडे हुए होता और उसे लाचार होकर मुझे छोडना पडता तो उस से मुझे पहिले तो दुःख होता परंतु जब मैं उसके छूट जाने के कारण मिले हुए स्वातंत्र्य की दृष्टि से विचार करने लगता तो उससे मुझे शांति और सुख ही प्राप्त होता ।

एक ओर जीवन और दूसरी ओर मृत्यु, इस प्रकार दो छोर होने के कारण इस लोक संबंधी निवास का भार हलका हो जाया करता है । और अपन इस चक्की में पिस जाने से बच जाते हैं । उस दिन चमत्कार पूर्ण रीति से अचानक ओर बे जाने मेरे मन पर यह तत्व जम गया कि

अबाध-जीवन-शक्ति का भार मनुष्य को सहन नहीं करना पडता ।

जीवन का आकर्षण कम होजाने के कारण मुझे मालूम पड़ने लगा कि सृष्टि-सौंदर्य, रहस्य से भरा पडा है । मृत्यु की घटना के कारण विश्व को अतिशय सौंदर्य-मय देखने की ठीक ठीक कला मुझे प्राप्त हुई और उस के कारण मृत्यु की पृष्ठ भूमि पर मैं विश्व का चित्र देखने लगा । यह चित्र मुझे बडा ही मोहक मालूम पड़ा ।

इस समय फिर मेरे विचार और व्यवहार में एक अजीब पन दिखने लगा । चालू रीति रिवाज और संप्रदाय के भारी जुआ के आगे कंधा झुका देने के लिये अपने को वाध्य होते देख मुझे हँसी आती । मुझे इन बातों में सत्य का अंश कभी प्रतीत नहीं हुआ । इसी तरह दूसरे लोगों के कहने सुनने की पर्वाह का भार भी मैंने मन पर से हटा दिया था । सुंदर रीतिसे सजाई हुई पुस्तकों की दूकान पर एक जाड़ा सा वस्त्र शरीर पर डालकर और पैर में चप्पल पहन कर मैं कई बार गयाहूँ । वर्षा शीत और उष्ण इन तीनों ऋतुओं में तीसरे मंजिलपर मैं बरामदे में सोया करता था । वहाँ से तारका मंडल और मैं येदोनों एक दूसरे को अच्छी तरह देखा करते । बिना एक क्षण का विलंब किये मुझे उषा देवी के स्वागत का भी यहीं प्रायः अवसर मिला करता ।

यह ध्यान रखना चाहिये कि, इसप्रकार के व्यवहार से विरक्ति का कोई संबध नहीं था। यदि विद्यार्थी यह समझने लगजाँय कि 'अध्यापक' कोई प्रत्यक्ष वस्तु न होकर एक काल्पनिक प्राणी है तो परिणाम यह होगा कि वे पाठशाला की व्यवस्था के नियमों को तोड मरोड कर अपनी छुट्टी समझते हुए खेल कूद में दिन व्यतीत कर देंगे। मेरी यही दशा थी। मैं समझने लगा था कि यह जीवन एक मिथ्या वस्तु है। अतएव इससे सबंध रखने वाली रूढियाँ भी काल्पनिक हैं और उन रूढियों को तोड़ने का अपने में सामर्थ्य है। ऊपर कही हुई मेरी चालढाल इसी समझ का परिणाम था। आनंद जनक प्रभात समय में यदि अपने को यह भान हो जाय कि पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण नष्ट हो गया है तो क्या उस समय भी अपन पृथ्वी पर धीरे धीरे ही चलते रहेंगे ! जगत के बंधनों के टूट जाने पर आनंद मग्न होकर नवीन प्राप्त होने वाली शक्ति के आनंद का अनुभव करने के लिये उँची उँची इमारतों पर कूदते हुए जाना क्या अपने को पसंद न होगा ?। मार्ग मे यदि कोई पर्वत के समान मंदिर मिला तो उस की परिक्रमा देने के कष्ट को सहन करने की अपेक्षा उस की शिखर पर उडते हुए जाना ही क्या अपने को श्रेयस्कर न मालूम होगा ?। मेरे पैरों नें संसार के भार को पटक दिया था। अतः मेरे लिये भी रुढियों से चिपटे हुए रहना जो अशक्य हो गया था उस का कारण भी यही था।

मृत्यु के कृष्ण-शिला-द्वार पर कोई चिन्ह या आकृति ढूंढने का प्रयत्न करने वाले अंधे के समान मैं भी रात्रि के अंधकार में गच्ची पर अकेला ही फिरता रहता था। फिर जब मैं प्रातः काल अपने बिछौने पर सूर्य-किरणों के पड़ने के कारण जागृत होता और आँखे खोलता तो मुझे ऐसा मालूम होता कि मेरे नेत्रों पर पसरे हुए अंधकार के पटल पारदर्शक हो रहे हैं। और जिस प्रकार कोहरा नष्ट हो जाने के कारण वातावरण स्वच्छ होने पर पर्वत, नदी, उद्यान, आदि पदार्थ स्पष्ट चमकने लगते हैं, उसी प्रकार मेरे आगे फैले हुए जीवन-चित्र पर से कोहरा नष्ट हो जाने के कारण वह चित्र मुझे रमणीय और प्रफुल्लित दिखने लगता था।

प्रकरण तिरतालीसवाँ !

वर्षा और शरद ऋतु ।

हिन्दू ज्योतिष शास्त्र के अनुसार कोई न कोई गृह प्रत्येक वर्ण का शास्ता माना जाता है। इसी प्रकार मेरे अनुभव की बात यह है कि जीवन की प्रत्येक अवस्था में किसी न किसी ऋतु का संबंध रहता ही है। और उसे ही एक विशेष प्रकार का महत्व प्राप्त होता है। मेरी बाल्यावस्था के वर्षाऋतु के चित्र मेरे स्मृति-पटल पर ज्यों के त्यों उकरे हुए हैं। हवा के झोंको से पानी भीतर आ रहा है और बरामदे की जमीन पर पानी

ही पानी हो गया है। बरामदे में से भीतर जाने के दरवाजे बंद कर लिये गये हैं। साग का टिपारा सिरपर लेकर हमारी वृद्ध नोकरानी " पीरी " पानी से भींजती हुई कीचड में से निकलने का रास्ता ढूंढ रही है। और ऐसे समय में मैं बिना कोई कारण के आनंद में मग्न होकर बरामदेमें इधर से उधर चक्कर मार रहा हूँ।

ऐसी ही एक बात और मुझे याद है। मैं पाठशाला में हूँ। गेलरी में हमारी कक्षा लगी हुई है। बाहिर चिकें पडी हैं। दुपहर का समय है। इतने ही में आकाश बादलों से भरने लगा। हम यह सब अभी देख ही रहे हैं कि जल धारा शुरू हो गई। भय उत्पन्न करने वाली मेघ-गर्जना भी बीच बीच में हो जाती है। मालूम होता है कि कोई पागल स्त्री विद्युत रूपी छुरी हाथ में लेकर आकाश को इस छोर से उस छोर तक चीर रही है। झंझावात से चिकें जोर जोर से हिल रही हैं। इतना अंधकार हो गया है कि बडी कठिनाई से हम लोग अपनी पुस्तक पढ सकते हैं। पंडित जी ने अपनी २ पुस्तकें बंद करने की हमें आज्ञा दे दी है। हमारे हिस्से में आई हुई धूमधाम और हाँ हूं करने के लिये इस समय हम ने मेघों को आम इजाजत दे रखी है। अधर लटक कर अपने झूलते हुए पैरों को हम हिला रहे है। ऐसे समय में जिस प्रकार किसी काल्पनिक कहानी का नायक राजपुत्र कोई

जंगल में भटकता हो उस प्रकार मेरा मन भी उस अति दूरस्थ अरण्य में सीधा चला जा रहा है, ऐसा मालूम होता था।

इस के सिवाय श्रावण मास की गंभीर रात्रियों का मुझे अच्छी तरह स्मरण है। बीच बीच में नींद खुल जाती है। पानी की बूंदे प्रशांत निद्रा की अपेक्षा अधिक प्रशांत और आनंद दायक प्रतीत होती हैं। जागृत होने पर मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि रात भर पानी इसी प्रकार पडता रहे। हमारा होद पानी से लबालब भर जाय। और स्नान करने की 'वापी' में इतना पानी आ जाय कि वह ऊपर की सीढी तक जा पहुंचे।

इस के बाद मैं जिस अवस्था का वर्णन करता हूं उस में निश्चयतः शरद ऋतु का साम्राज्य है। आश्विन मास के शांत वातावरण में यह साम्राज्य फैला हुआ दीख रहा है। ओस से भींजी हुई हरियाली के तेज से प्रतिबिंबित शारदीय सुनहले सूर्य प्रकाश में मैं बरामदे में चक्कर मारा करता।

शरद ऋतु का दिन अब ऊपर चढ आया है। घर के घंटे ने बारह बजा दिये हैं। इस के साथ ही साथ मेरे मन की स्थिति और उस के साथ गाने की राग भी बदल गई है। मेरा मन संगीत में तल्लीन हो गया है। अब उद्योग या कर्तव्य की पुकार के लिये कोई स्थान नहीं रह गया है। मैं अपना गीत आगे रचने में लगा ही हुआ हूँ।

दुपहर के बाद में अपने कमरे में चित्र बनाने की पोथी हाथ में लेकर चित्र बनाने के प्रयत्न में अपनी बैठक पर पडा हुआ हूँ। यह कोई चित्र-कला का पीछा पकडना नहीं माना जा सकता, यह तो चित्र बनाने की इच्छा के साथ खेल खेलना हो सकता है। इन सब के बीच में रही हुई मुख्य बात तो मन के मन ही में रह जाती है। उसका तो नाम मात्र भी कागज पर नहीं लिखा जाता। इतने ही में शरद ऋतु का तीसरा पहर कलकत्ते की उन छोटी छोटी भीतों पर से जाता हुआ दीख पडता है और जाते जाते मेरे कमरे को सुवर्ण के प्याले के समान उन्माद से भरता जाता है।

खेतों में फसल पक जाने के समान जिस शरद ने मेरे काव्य की वृद्धि कर उसे पूर्णता को पहुँचाया, जिसने मेरे अवकाश की कोठी को प्रकाश से प्रकाशित कर दिया, पद और गायन रचते समय जिसने मेरे खुले मन पर आनन्द और धैर्य का प्रवाह बहाया, मानो उस शरदऋतु के आकाश में से ही उस समय के दिनों को मैं देख रहा हूं, अथवा मानो मैं उस शरद के प्रकाश के द्वारा अपने जीवन का निरीक्षण कर रहा हूं, ऐसा मुझे मालूम होता था। परन्तु ऐसा क्यों मालूम होता था यह मुझ से नहीं कहा जा सकता।

मेरी बाल्यावस्था की वर्षाऋतु और तारुण्य की शरद-ऋतु में मुझे एक बडा अंतर दिखलाई पड रहा है। वह यह कि बालपन में तो अपने असंख्य साधनों,

चमत्कार पूर्ण स्वरूपों, तथा नाना-विध गायनों के द्वारा मुझे तल्लीन बना कर आश्चर्य चकित करने वाली वस्तु वाह्य सृष्टि थी। परन्तु तारुण्य-शरदऋतु-के दिव्य प्रकाश में होने वाले उत्सवों का जनक स्वयं मनुष्य ही होता है। तरुणाई-शरद-में मेघ और सूर्य-प्रकाश की लीलाओं को कोई नहीं पूछता। उस समय तो मन आनन्द और दुःख से लबालब भर जाया करता है। शरदऋतु के आकाश को खुल उठने का अथवा उस में रंग की छटा फैल जाने का कारण तो उसकी ओर हमारा एक टक से देखना ही है। इसी प्रकार शरद की वायु लहरी में तीव्रता उत्पन्न करने वाली वस्तु भी अंतःकरण की छटपटाहट ही है।

अब मेरे काव्य का विषय मानवप्राणी बन गया है। यहाँ तो पूर्व परम्परा छोडने की गुंजाइश ही नहीं है। क्योंकि मानवीय रहन सहन के द्वार तो निश्चित ठहरे हुए हैं। द्वार के बाद द्वार और दालान के बाद दालान, इस प्रकार एक सी रचना है। इस राजभवन की खिडकी में अचानक प्रकाश पहुँचने पर भी अथवा द्वार के भीतर से वाद्य नाद कान पर पडते हुए भी हमें कितने ही बार इस भवन में से लौटना पडता है। लेनदेन का व्यवहार शुरू होने के पहले मार्ग के कितने ही दुःख दायक विघ्नों को हटाना पडता है और मन दूसरा मन बन जाता है। असली नहीं रहपाता। इच्छा शक्ति से उसे प्रेम जोडना पडता है। जीवन का फवारा इन विघ्नों पर

पडते हुए, उस में से जो हास्य और अश्रुओं के तुषार उडते हैं उन से दिशाएँ धूसरित बन जाती हैं। इस फवारे में इतना जोर होता है कि वह बहुत ऊँचे तक उडता और जल भँवर के समान एक सरीखा नाचता रहता है। इस कारण उस के यथार्थ मार्ग की ठीक ठीक कल्पना किसी को भी नहीं हो पाती।

प्रकरण चवालीसवाँ

कडीओ कोमल।

यह एक संध्याकालीन गीत है जो मानव देह रूपी गृह के आगे से जाने वाले रास्ते पर से, गाया जाने योग्य है। अथवा उस रास्ते पर से सुनने योग्य है। उस गूढतम प्रदेश में प्रविष्ट होकर रहने की आज्ञा प्राप्त करने के लिये यह गीत गाया गया है। इस गीत में की हुई प्रार्थना मनुष्य प्राणी विश्वात्मा से करता रहता है।

जब मैं दूसरी बार विलायत को जाने लगा तो जहाज पर ही आशुतोष चौधरी से मेरा परिचय हो गया। इन्होंने हाल ही में कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम० ए. पास किया था। और बेरिस्टरी पास करने विलायत जा रहे थे। कलकत्ते से मद्रास तक जाने में हमारा उनका साथ हुआ।

इनकी संगति से ऐसा प्रतीत हुआ कि स्नेह की गंभीरता परिचय की अधिकता या न्यूनता पर निर्भर नहीं हैं। इस थोडे से ही समय में चौधरीबाबू ने हमें प्रेम पूर्ण सादे और अकृत्रिम गुणों से इतना अपना लिया कि मानो हमारी उनकी जन्म से ही मैत्री हो। और उसमें कभी भी बाधा न पडी हो।

विलायत से लौटने पर 'आशु' हमारे में का ही एक बन गया। ❀ अभी उसके धंदे का जाल अधिक नहीं फैला था, और न उसके ग्राहकों के पैसे की थैलियां ही इतनी अधिक ढीली हुई थीं। इसलिये उसमें साहित्य के विविध उद्यानों से मधु एकत्रित करने का उत्साह मौजूद था।

उसे फ्रेंच साहित्य से बडा प्रेम था। उस समय मैं कुछ कविता रच रहा था। ये कविताएं आगे जाकर 'कडीं ओ कोमल' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुई। 'आशु' कहा करता था कि मेरी कविता में और प्राचीन फ्रेंच कविता में साम्य है। इस काव्य में 'विश्वजीवन के खेल से कवि पर पडी हुई मोहिनी' इसी तत्व का प्रतिपादन किया है, और उसे भिन्न भिन्न स्वरूप में व्यक्त किया है, ऐसा उसका मत था। विश्व--जीवन में प्रवेश करने की इच्छा ही इन सब कविताओं का एक मात्र उद्देश्य था।

❀ रविबाबू की भतीजी के साथ आशुबाबू का विवाह हो जाने के कारण यह कहा गया है।

इन सब कविताओं को एक स्थान पर क्रम पूर्वक एकत्रित कर उन्हें छपवाने और प्रकाशित करने का काम आशुने अपने ऊपर लेने की इच्छा प्रदर्शित की, अतः यह काम उसे सौंपा गया। 'कडी ओ कोमल' नामक कविता उसे सब कविताओं की कुञ्जी मालूम हुई इसलिये उसने उस कविता को ग्रंथ में प्रथम स्थान दिया।

आशु का कहना बिलकुल ठीक था। बाल्यावस्था में मुझे घर से बाहर जाने की आज्ञा नहीं थी। उस समय मैं अपनी गच्ची पर की दीवालों के झरोखों में से बाह्य सृष्टि के विविध स्वरूपों की ओर आशा लगाये देखता और उसे अपना हृदय अर्पण किया करता था। तारुण्य में प्रविष्ट होने पर मानवी सृष्टि ने, बाह्य सृष्टि के समान मुझे मोहित कर डाला। बाल्यावस्था में बाह्य सृष्टि के साथ एक अपरिचित मनुष्य के समान मैं दूर से ही बात चीत किया करता था। तारुण्य में भी वही हालत है। मानवीय सृष्टि से मैं रास्ते की एक ओर खडा होकर दूर से ही परिचय करता हूँ। मुझे मालूम होता है कि मेरा मन सागर के तट पर खडा हुआ है। सागर के उस तट पर से नाव की पतवार चलाता हुआ नाविक मुझे उत्सुकता पूर्वक अपने हाथ के इशारे से बुला रहा है। और कहना चाहिये कि मन भी इस प्रवास के लिये एक सरीखा छटपटा रहा है।

यह कहना ठीक नहीं है कि मुझे समाज में मिल जाना नहीं आता। एक विशेष प्रकार के एकांत जीवन में मेरा लालन पालन हुआ है। और इसलिये सांसारिक जीवन से हिल मिल जाने में यह बात बाधक होगई है। परंतु सामाजिक व्यवहारों में सर्वथा गढ जाने वाले देश बान्धवों में भी मुझसे अधिक समाज-स्नेह के चिन्ह दिखलाई नहीं पडते। हमारे देश के जीवन प्रवाह का किनारा ऊँचा है। उसपर घाट बने हुए हैं। उसके काले काले पानी पर प्राचीन वृक्षों की ठंडी छाया फैली हुई है। वृक्षों की शाखाओं पर पत्तों में छिपी कोकिला प्राचीन गीत गा रही है। यह सब कुछ है, परंतु अब वह प्रवाह बहना बंद होगया है। पानी एक जगह रुका पडा है। भला! उसका वह प्रवाह क्यों बंद हो गया? उसपर उठने वाली लहरें क्यों बंद हो गई?। सागर की भर्ती का पानी किस समय इस प्रवाह में घुसता होगा?।

मनुष्य यदि एकांत में—आलस्य में—दिन व्यतीत करता है तो उस का मन क्षुब्ध हो जाता है। उस पर निराशा का साम्राज्य छा जाता है। क्योंकि इस स्थिति में जीवन व्यवहार से निकट संबंध नहीं रह पाता। इस निराशा जनक स्थिति से छुटकारा पाने का मैंने खूब प्रयत्न किया। उस समय के राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेने को तो मेरा मन स्वीकार नहीं करता था। क्योंकि उस में जीवनी—शक्ति का अभाव

दिखलाई पड़ता था। साथ में देश का पूर्ण अज्ञान और मातृ भूमि की सेवा की छटपटाहट का पूर्ण अभाव भी मौजूद था। मुझे अपने आपके प्रति और इसी प्रकार मेरे आस पास की सब बातों के प्रति बड़ा असंतोष था। इस कारण मैं अधीर बन गया था। और मैं अपने ही आप से कहा करता था कि मैं स्वच्छन्दता पूर्वक भटकने वाला 'अरब बेदु-ईन' हुआ होता तो कितना अच्छा होता।

जगत के दूसरे हिस्सों में स्वतंत्र-जीवन-क्रम का आन्दो-लन कभी बंद नहीं होता। वहाँ मनुष्य मात्र का इस के लिये अव्याहत प्रयत्न चलता रहता है। और हम ?—हम तो कहानी की भिखारिणी के समान एक ओर खडे रह कर बडी लालसा से रास्ता जोते रहते हैं। अपनी तैयारी कर के जगत के स्वातं-त्र्योत्सव में शामिल होने का क्या हमें भी कभी अवसर मिला है ?। जहाँ फूट का साम्राज्य है, एक दूसरे को अलग करने वाली हजारों बातें प्रचलित हैं, ऐसे देश में जगत के स्वातंत्र्य का स्वतः अनुभव प्राप्त कर ने की लालसा अपूर्ण ही रहेगी।

बाल्यावस्था में अपने नोकरों द्वारा खींची हुई सफेद खडी की रेखाओं के भीतर रहकर जिस जिज्ञासा से मैं बाह्य सृष्टि को देखता रहता था, उसी जिज्ञासा से अपनी इस तरुणावस्थामें भी मानव सृष्टि की ओर देखता रहता था। ये

बातें यद्यपि मुझे कभी तो प्राप्त होने वाली, कभी प्राप्त न होने वाली और कभी मुझ से अत्यंत दूर रहने वाली प्रतीत हुईं तो भी उन से यदि संबंध न हुआ, उन के द्वारा कभी वायु की लहरें उत्पन्न न हुईं, उन का प्रवाह बहने न लगा और प्रवासियों के आने जाने योग्य वहाँ रास्ता न हुआ तो फिर हमारे चारों ओर एकत्रित मृत वस्तुएँ कभी दूर न होंगी और उनका एक बडा भारी ढेर होजायगा, जिस के नीचे हमारा जीवन बिना कुचले न रहेगा।

वर्षाकाल में केवल काले मेघ आकाश में जमा हो जाते हैं और फिर पानी गिरने लगता है। शरद ऋतु के आकाश में बिजली चमकती है, मेघ गरजते हैं परंतु पानी नहीं पड़ता और एक दृष्टिसे यह ठीकभी होता है क्योंकि यह फसल आने का समय होता है। यही बात मेरे कवित्व के संबंध में भी कही जा सकती है। कवित्व के जीवन में जब वर्षा ऋतु का साम्राज्य था तब कल्पना के भाफ के सिवाय उस समय मेरे पास कुछ नहीं था। कल्पना के मेघ जमते और मूसल धार पानी पड़ने लगता। उस समय मैं जो कुछ लिखता वह अस्पष्ट होता और मेरी कविता स्वैर संचार किया करती। परंतु मेरे कवि जीवन के शरद काल में रचे हुए 'कड़ी ओ कोमल' नामक पद्य समुच्चय के संबंध में ऐसा कहा जा सकेगा कि आकास मेघों से व्याप्त था और पृथ्वीतल पर फसल आती हुई दिखलाई

पड़ती थी। उस समय वास्तविक जगत से मैं परिचय कर रहा था। इन्हीं दिनों मेरी भाषा और छंदों ने नियमशः नाना प्रकार के रूप धारण करने का प्रयत्न किया।

इस प्रकार मेरी जीवन–पुस्तिका के दूसरे भाग का अंत हुआ। अब " अन्तर्बाह्य के एकत्रित होने के" 'परिचित से अपरिचित का मेल करा देने के' दिवस चले गये। अब मुझे अपना जीवन - प्रवास मनुष्यों के निवास स्थान में ही रह कर पूरा करना है। इस प्रवास में प्राप्त होनेवाली भली बुरी बातों या सुख दुख के प्रसंगों की ओर अब हेतु रहित होकर चित्र के समान द्रष्टा बनने से काम नही चलेगा। अब तो इन का गंभीरता पूर्वक विचार करना होगा। एक ओर नई नई बातें उत्पन्न हो रही हैं और दूसरी ओर कुछ बातें लय होती जाती हैं। एक ओर जय दुंदुभि नाद हो रहा है और दूसरी ओर मुख पर अपयश की कालिमा छा रही है। एक ओर आपसी झगडे बढ रहे हैं तो दूसरी ओर अन्तःकरण के मिलन से आनंद ही आनंद छा रहा है। इस प्रकार इस जीवन में एक दूसरे के विरुद्ध अनेक प्रकार की अनंत घटनाएँ प्रतिसमय घटित हो रही हैं।

जीवन के अंतिम रहस्य--मय साध्य तक पहुंचने के मार्ग में अनंत अडचनें, अनेक शत्रु और विषमताएँ हैं। इन सबों के बीच में से मेरा पथ प्रदर्शक बडे उत्साह और

कौशल्य से मेरे लक्ष्य की ओर मुझे ले जा रहा है। उस कुशलता का वर्णन करने की अथवा उस मार्ग की रूप रेखा चित्रित करने की शक्ति मुझ में नहीं है। इस मार्ग की गहन गूढता को स्पष्ट करने की शक्ति मेरे में न होने से मैं इस संबंध में यदि कोई चित्र खींचूंगा तो मुझे आशा है कि उससे पद पद पर भ्रम ही उत्पन्न होगा। उस प्रतिमा की रूप रेखा चित्रित कर उस के भिन्न भिन्न भागों को दिखाने का प्रयत्न असफल होगा। उस में सफलता नहीं मिलेगी। हाँ, ऊपर की धूलि भले ही मिल जाय, पर अंतरंग की भेट का आनंद अपने को प्राप्त न होगा।

इस लिये अंतरात्मा के देवालय के द्वार तक अपने पाठकों को पहुंचा कर अब मैं उन से विदा होता हूं।

नियमावली. मित्रग्रंथमाला इन्दौर.

(१) मित्रग्रंथमालामें कम से कम तीन रुपये मूल्य के और ज्यादह से ज्यादह छह रुपये मूल्य के हिंदी ग्रंथ प्रतिवर्ष प्रकाशित हुआ करेंगे।

(२) पच्चीस रुपये एकमुश्त देनेवाले सज्जन ग्रन्थमालाके 'संरक्षक' गिने जावेगे।

(३) संरक्षकको को माला की प्रत्येक पुस्तक की एक २ प्रति विना मूल्य भेट की जावेगी। यदि एक से अधिक लेना चाहेंगे तो पोने मूल्य में मिल सकेंगी।

[४] यदि कोई संरक्षक अपने दिये हुए रुपये वापिस लेना चाहेंगे तो उन्हें माला की चाहे जो पुस्तके पोने मूल्य से २५] रुपयों की पूरी कर दी जावेंगी।

[५] आठ आने प्रवेश फीस देने वाले सज्जन मालाके स्थायी ग्राहक हो सकेंगे। स्थायी ग्रहाकों को माला की सभी पुस्तकें पोने मूल्य में दी जावेंगी।

[६] नई पुस्तक तैयार होतेही उसकी सूचना स्थायी ग्राहकौं के पास भेज दी जावेगी और पन्द्रह दिन के बाद वी. पी. रवाना कर दी जावेगी।

[७] वी. पी. वापिस लौटानेवाल सज्जनों का नाम स्थायी ग्राहकों में से निकाल दिया जावेगा। और उनके जो आठ आने जमा होंगे वे जप्त कर लिये जावेंगे।